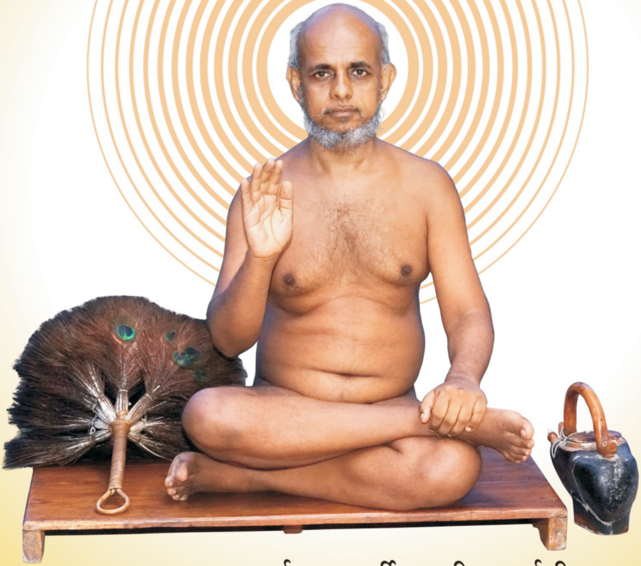

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

लेखक
मुनि नगराज

सम्पादक
सोहनलाल जी बाफणा

प्रकाशक
आत्माराम एण्ड संन्स
काश्मिरी गेट, दिल्ली–6

(परम्परानायक)

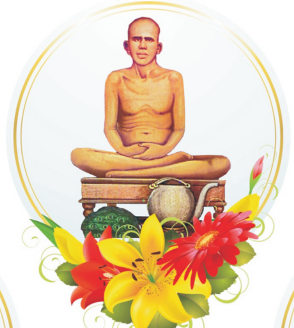

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

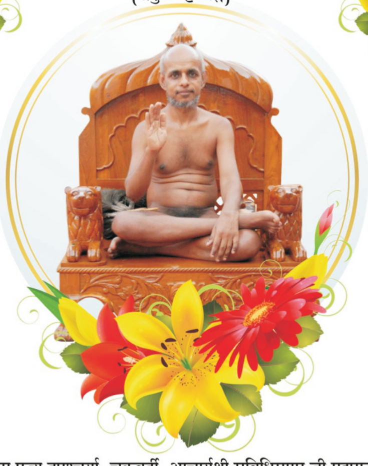

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

जैन दर्शन

और

आधुनिक विज्ञान

लेखक

मुनिश्री नगराज जी

सम्पादक

श्री सोहनलाल बाफणा

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

लेखक की अन्य कृतियाँ

१. जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान (हिन्दी, अंग्रेजी)
२. अणुव्रत जीवन-दर्शन (हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला)
३. अणु से पूर्ण की ओर
४. प्रेरणा-दीप
५. अहिंसा के अंचल में
६. अणुव्रत दृष्टि
७. अणुव्रत विचार
८. अणुव्रत-क्रान्ति के बढ़ते चरण (हिन्दी, अंग्रेजी)
९. अणुव्रत-आन्दोलन
१०. अणुव्रत-आन्दोलन और विद्यार्थी-वर्ग (हिन्दी, बंगला)
११. आचार्य भिक्षु और महात्मा गाँधी (हिन्दी, गुजराती)
१२. युग-प्रवर्तक भगवान् श्री महावीर
१३. तेरापंथ दिग्दर्शन (हिन्दी, अंग्रेजी)
१४. युगधर्म तेरापंथ (हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड़)
१५. नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया (हिन्दी, अंग्रेजी)
१६. बाल-दीक्षा : एक विवेचन

COPYRIGHT © BY ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य रुपए
प्रथम संस्करण ६
आवरण इंगोले
मुद्रक प्रेस, दिल्ली-६

आत्माराम एण्ड सन्स संशोधित मूल्य 6.00

दर्शन, साहित्य और संस्कृति

के

त्रिवेणी तीर्थ

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

आचार्य श्री तुलसी

को

दो शब्द

गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—भिक्षुओ ! मैं जो कुछ कहूँ वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना, लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना, सुन्दर लगता है ऐसा समझकर सच मत मानना, तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिये सच मत मानना, मैं शास्ता हूँ, पूज्य हूँ, ऐसा मानकर सच मत मानना, ऐसा ही होगा ऐसा मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हों उसे ही सत्य मानना । मैं अपनी पुस्तक 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' के सम्बन्ध में इसी उक्ति को इस प्रकार दुहराना चाहूँगा कि पाठक केवल इसलिये इस पुस्तक के विषय में उपेक्षाशील न हों कि लेखक के पास दर्शनाचार्य व विज्ञान विशेषज्ञ की कोई उपाधि नहीं है । किन्तु वे एक तटस्थ अध्ययन के आधार से ही प्रतिपादित विषय की यथार्थता का मूल्यांकन करें ।

एक जैन परम्परा में संदीक्षित होने के कारण दर्शन तो जीवन का एक सहज विषय था ही, किन्तु न जाने क्यों आधुनिक विज्ञान की नित नई गवेषणाओं को पढ़ने में भी सदैव मेरी अभिरुचि रही । लगभग १५ वर्षों से तो मैं इस विषय में दत्तचित्त रहा ही हूँ । कुछ सामयिक स्थितियों एवं श्रद्धास्पद आचार्य श्री तुलसी की पुनीत प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप अब तो दर्शन और विज्ञान का समीक्षात्मक अध्ययन जीवन का एक सुनिश्चित विषय बन ही गया है ।

एक सामान्य विवेचक की अपेक्षा एक समीक्षात्मक विवेचक को दोनों ही विषयों का बहुत ही व्यवस्थित और विश्वस्त अध्ययन कर लेना पड़ता है । हो सकता है अपने प्रतिपादन में उन दोनों विषयों के बहुत ही सूक्ष्म अंश ग्राह्य होते हों । स्याद्वाद और सापेक्षवाद, परमाणुवाद, आत्म-अस्तित्व, भू-भ्रमण और ईथर आदि विषयों पर समीक्षात्मक लिखने में जो मुझे आयास उठाना पड़ा है, यदि किसी लेखक का स्वतंत्र उद्देश्य होता तो उन्हीं पाँच विषयों पर प्रबन्ध (Thesis) लिखने में भी इससे अधिक आयास नहीं उठाना पड़ता । उक्त विषयों पर लिखने से पूर्व उनका एक समग्र अध्ययन कर लेना मैंने अपना ध्येय समझा और तदनकूल ही प्रवृत्त हुआ । फिर भी माननीय

दुर्बलताओं को सोचते हुए मैं अपने ध्येय में कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका जरा भी गौरव नहीं कर सकता।

इस प्रसंग में अंग्रेजी व हिन्दी के उन लेखकों का मैं आभार माने विना नहीं रह सकता जिनकी कृतियाँ मेरे इस उपक्रम में योगभूत बनी हैं। प्रो. जी. एल. जैन एम. एस-सी. का तो मुझे बहुत ही मूक समर्थन मिला जब कि मैं अपनी पुस्तक के बहुत सारे स्थल लिख चुका था और एकाएक 'Cosmology Old and New' पुस्तक मुझे देखने को मिली। मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ कि जिन विषयों पर मैं लिखने जा रहा हूँ उन्हीं विषयों पर और लगभग उसी क्रम से इससे पूर्व भी लिखा जा चुका है। इस पुस्तक से मेरे अधीत विषय को बहुत समर्थन मिला और बहुत कुछ नया मैंने इस पुस्तक से पाया।

उन वैज्ञानिकों का सौजन्य तो कभी मेरी स्मृति से मिट ही कैसे सकता है जिन्होंने मेरी रुचि और मेरे अध्ययन को अपना ही विषय मानकर अधिक से अधिक समय तक मेरे अनुशीलन को समृद्ध और परिपुष्ट करने में लगाया। जिसमें स्वामी विद्यानन्द (प्रो० विभूति भूषण दत्त एम. एस-सी. भूतपूर्व प्राध्यापक कलकत्ता विश्वविद्यालय) सरदार निरंजन सिंह एम. एस-सी. तत्कालीन प्रिन्सिपल पंजाब यूनिवर्सिटी, कैम्प कालिज, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध डॉ० राधाविनोद, श्री जेठालाल झवेरी बी. एस-सी. प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

मुनि महेन्द्रकुमारजी ने इस पुस्तक के लेखन में मेरे दायें हाथ का काम किया है। सच बात तो यह है उन्होंने इस पुस्तक का मात्र लेखन ही नहीं किया मेरे बौद्धिक श्रम में भी बहुत कुछ हाथ बँटाया। समय-समय पर मेरे मन पर छा जाने वाली तन्द्रा को विचलित करने का तो मानो उन्होंने प्रण ही ले रखा था। उस समय उनकी वह आगे लिखने की रट मेरे मानस को झुंझला देती थी। पर कुल मिलाकर आज यह स्पष्ट है कि यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो पुस्तक की सम्पन्नता और अधिक समय ले लेती।

सं० २०१३ फा० शु० १०
पिलानी (राजस्थान)

—मुनि नगराज

सम्पादकीय

आज की भौतिक चकाचौंध में पली पीढ़ी दर्शन के प्रति उतनी श्रद्धाशील नहीं है जितनी कि विज्ञान के प्रति। यद्यपि दर्शन और विज्ञान का अन्तिम साध्य एक है और वे दोनों ही सत्य तक पहुँचने के उपक्रम हैं, फिर भी अन्तर स्पष्ट है। दर्शन जहाँ मनुष्य की आन्तरिक ज्ञान-शक्ति के आधार पर तथ्यों तक पहुँचने का प्रयास करता है, वहाँ विज्ञान प्रयोग-शक्ति के आधार पर। प्रयोग-प्राप्त सत्य की तरह चिन्तन-प्राप्त सत्य स्थूल आकार में सामने नहीं आता, अतः साधारणतया जनता की श्रद्धा को अपनी ओर आकृष्ट करना विज्ञान के लिए जितना सहज है, दर्शन के लिए उतना नहीं। इतना होने पर भी दोनों कितने नजदीक हैं—यह देखकर चकित होना पड़ता है।

'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' दर्शन और विज्ञान की समीक्षात्मक सामग्री प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन में परमाणु, भू-भ्रमण, ईथर आदि के सम्बन्ध में क्या उल्लेख हैं और आधुनिक विज्ञान के साथ उनका कहाँ कितना विचार-ऐक्य व विचार-वैभिन्य है, यह इसमें स्पष्ट रूप से मिलेगा। व्यवस्थित व विश्वस्त अध्ययन के साथ पुस्तक जिस रोचक शैली में लिखी गई है वह पाठक को दुरूह नहीं लगेगी अपितु प्रारम्भ किया गया निबन्ध वह समग्र पढ़ना चाहेगा। यही कारण है कि हिन्दी के प्रमुख 'दैनिक नवभारत टाइम्स' ने पुस्तक के काफी भाग को धारावाहिक प्रकाशित किया।

लेखक मुनिश्री नगराज जी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ परम्परा के सन्त हैं। दर्शन और साहित्य उनके जीवन का विषय है। अणुव्रत-आन्दोलन प्रणेता आचार्य श्री तुलसी, जिन्होंने कि अपने साधु-संघ (तेरापंथ) को नया मोड़ दिया है, आपके प्रेरणा-स्रोत हैं। यही कारण है एक जैन मुमुक्षु ने विज्ञान का इतना गहन अध्ययन किया है। केवल अध्ययन ही नहीं अपितु अपने दार्शनिक तथ्यों को आज के वैज्ञानिक युग में तत्संगत सिद्ध किया है। मुनिश्री के इस प्रयास से नई पीढ़ी को एक आलोक मिलेगा, मार्ग-च्युत होती विचारधारा को सोचने का मौका मिलेगा और आत्म तथा अध्यात्म से/उठती निष्ठा को एक सहारा मिलेगा।

मैं श्री रामलाल पुरी, संचालक, आत्माराम एण्ड संस को भी धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में अपनी सुरुचि अभिव्यक्त की। पुस्तक के सम्पादन का मुझे अवसर मिला, इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

—सोहनलाल बाफणा

अनुक्रम

१. दर्शन और विज्ञान	.	१
२. स्याद्वाद और सापेक्षवाद	.	६
३. परमाणुवाद	.	२७
४. आत्म-अस्तित्व	.	७३
५. सापेक्षवाद के अनुसार भू-भ्रमण केवल सुविधावाद	.	१०६
६. पृथ्वी : एक रहस्य	.	१२१
७. धर्म-द्रव्य और ईयर	.	१२८

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

१

दर्शन और विज्ञान

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स अपनी 'पदार्थ विज्ञान और दर्शन' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"दर्शन और विज्ञान की सीमा रेखा जो एक प्रकार से निरर्थक हो चुकी थी; वैचारिक पदार्थ विज्ञान (थियोरिटिकल फिजिक्स) के निकट भूत में होनेवाले विकास के कारण अब वही सीमा रेखा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक बन गई है।"[1]

दर्शन और विज्ञान जो अब तक विपरीत दिशाओं के पथिक माने जा रहे थे, वह युग समाप्त हो गया है। वस्तुस्थिति यह है कि दर्शन भी मानव मस्तिष्क में आये 'किं तत्त्वम्' का समाधान है और विज्ञान का लक्ष्य भी सत्य क्या है? यथार्थता क्या है? इसे समझ लेना है। दर्शन के शब्द में जीवन की व्यापकता समाहित होती है। विश्व क्या है? मैं क्या हूँ? इन स्थितियों को समझ लेना और तदनुकूल अपनी मंजिल की ओर आगे बढ़ना दर्शन का एक पूर्ण स्वरूप बन जाता है। इसीलिए तत्त्वज्ञों ने कहा—दुःख जिहासा और सुख लिप्सा जीवन का लक्ष्य है। विचार क्षेत्र में ज्ञान और क्रिया ने दो रूप ले लिए हैं, यह भी बहुजन सम्मत तथ्य है। जहाँ तक तत्त्व क्या है? इस प्रश्न का समाधान है वह दर्शन है और यह जान लेने के पश्चात् विश्व का स्वरूप यह है, उसमें आत्मा की स्थिति यह है और इन प्रयत्नों व साधनों से आत्मा अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेती है, इस प्रकार से आचरण करना धर्म है। आत्मा की मुक्ति में दर्शन और धर्म दोनों का समान

---

1. The borderland territory between Physics and Philosophy which used to seem so dull but suddenly becomes so interseting and important through recent development of theoretical Physics.
—*Physics and Philosophy, Foreword.*

महत्त्व है। इसीलिए कहा गया है—"ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः"

जहाँ हम विज्ञान के लक्ष्य और परिभाषा की चर्चा करते हैं वहाँ केवल जान लेने मात्र का आग्रह मिलता है। सृष्टि के रहस्यों को खोलते जाओ व सत्य को पाते जाओ इससे आगे वहाँ कुछ भी नहीं मिलता।

दर्शन का उद्गम

दर्शन को बहुत सारे लोग सही रूप से नहीं जान पाए हैं। उनकी दृष्टि में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा चलाये गए विभिन्न धर्म ही विभिन्न दर्शन हैं। इसलिए वे सोचते हैं दर्शन युक्ति-प्रधान न होकर व्यक्ति-प्रधान है, पर स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। दर्शन का जन्म ही तर्क की भूमिका पर हुआ है। दर्शन-युग से पहले श्रद्धा-युग था। महावीर बुद्ध, कपिल आदि महापुरुषों ने जो कुछ कहा वह इसी प्रमाण से सत्य माना जाता था कि यह महावीर ने कहा है और यह बुद्ध या कपिल ने कहा है जिस पुरुष में जिसकी श्रद्धा थी उस पुरुष के वचन ही उसके लिए शास्त्र थे। तर्क का युग आया। मनुष्य सोचने लगा—उस पुरुष ने कहा है इसलिए हम सत्य मानें ऐसा क्यों ? सत्य का मानदण्ड तर्क, युक्ति व प्रमाण होना चाहिए। यहीं से दर्शन का उद्गम हुआ। इसलिए यह मानकर चलना अज्ञान है कि दर्शन तर्क-प्रधान न होकर केवल श्रद्धा-प्रधान है।

दर्शन में दुर्बलता का संचार तब हुआ जब सभी लोगों ने अपने अपने श्रद्धास्पद पुरुषों को मान्य रखकर उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों को तर्क और युक्ति से सिद्ध करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप जैन, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक वैशेषिक आदि दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। वैसे तो सभी दर्शन अपने आप में युक्ति पुरस्सर हैं, पर इस युक्तिमत्ता के नीचे अपने अपने आराध्य पुरुषों की श्रद्धा सुस्थिर है ही। केवल युक्ति ही सब दर्शनों का आधार होता तो दो और दो, चार की तरह सम्भवतः सभी के निर्णय एक ही सत्य को प्रकट करते। तथापि यह तो सुनिश्चित है ही कि दर्शन के क्षेत्र में अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक के विषय में बहुत कुछ सोचा गया है; तर्क, युक्ति और प्रमाण की विभिन्न कसौटियों पर कसा गया है। दार्शनिकों के निर्णय बूझ-बुझागरों की उड़ान कदापि नहीं है।

विज्ञान का इतिहास

विज्ञान का इतिहास दर्शन से बहुत कुछ भिन्न है। विज्ञान की आधार भूमिका पर किसी परम पुरुष की प्रामाणिकता नहीं मानी गई है। लगता है—विज्ञान का चिन्तन धर्म और दर्शनों के विवादास्पद निर्णयों से ऊबकर एक स्वतन्त्र धारा के

रूप में चला है। हमारा सत्य सदा असन्दिग्ध और एक रूप रहे इसलिए वैज्ञानिकों ने प्रयोग और अन्वेषणों को ही अपना प्रमाण माना। विज्ञान की परिभाषा में सत्य वही माना गया जिस पर प्रयोगशालाओं और वैधशालाओं की छाप लग गई हो; किन्तु सत्य को पा लेना उतना सहज नहीं था, जितना कि उन्होंने समझा था। विज्ञान का इतिहास उठाकर यदि हम एक तटस्थ अध्ययन करते हैं तो प्रति पृष्ठ पर वहाँ बदलते हुए निर्णय पाये जाते हैं। गति सहायक ईथर के विषय में न्यूटन प्रभृति प्राक्तन वैज्ञानिकों ने क्या कुछ माना, अब तक कितने प्रयोगों के आधार पर कितने नये निर्णय आए और आज प्रो० अलबर्ट आईस्टीन ने किस प्रकार इसे अस्तित्व शून्य-सा कर दिया है। परमाणु के विषय में डेमोक्रेट्स से लेकर अणु बम व उदजन बम तक के इस युग में कितने नवीन निर्णयों की एक शृङ्खला बनी है। परमाणु का इतिहास केवल क्रमिक विकास का ही द्योतक नहीं है; विभिन्न निर्णयों के उथल पुथल की वह एक ग्रन्थिमाला भी है। उसे यदि हम क्रमिक विकास का प्रतीक भी मानें तो भी यह प्रश्न तो हमेशा ही सामने रहेगा—कल का सत्य यदि आज बदल गया तो आज का सत्य क्या कल तक ठहर सकेगा? सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा अन्य ग्रह-गणों की गति, स्थिति और स्वरूप के विषय में टोलमी के युग की बात कोपरनिकस के युग में नहीं रही और कोपरनिकस के निर्णयों पर आईस्टीन का सापेक्षवाद एक नया रूप लेकर आ धमकता है। क्या हम सोचें इस सम्बन्ध में आईस्टीन के निर्णय अन्तिम हैं?

न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravitation) का आविष्कार किया। उन दिनों पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है, यह सिद्धान्त अपनी प्रारम्भिक स्थिति में था। इस नये सिद्धान्त के साथ नाना नये प्रश्न पैदा हो रहे थे—यदि पृथ्वी गोल है तो उस पर हिन्द महासागर जैसे समुद्र कैसे स्थिर रहते हैं? उनका पानी अनन्त आकाश में क्यों नहीं बह जाता? पृथ्वी नियमित रूप से अपनी कक्षा में क्यों चलती है? चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर क्यों चक्कर लगा रहा है? और भी नाना ग्रह, उपग्रह सूर्य के चारों ओर क्यों घूमते हैं? उन सब की गति निश्चित क्रम से क्यों होती है? आदि अनेकों प्रश्न खड़े थे। इसी उधेड़-बुन में सूक्ष्म विचारक न्यूटन अपने उद्यान में एक दिन बैठा था। उसके देखते देखते सेम का फल वृक्ष से टूटा और पृथ्वी पर आ पड़ा। सहसा उसके [illegible] फल नीचे ही क्यों गिरा? ऊपर क्यों नहीं चला गया? उ [illegible] आकर्षण है। यही विचार आगे बढ़ा और उसने सुप्रसिद्ध गुरुत्वाकर्षण का रूप लिया। अब तो न्यूटन को पृथ्वी में ही नहीं पृथ्वी के अणु अणु में और अन्य ग्रह-पिण्डों में सर्वत्र आकर्षण ही आकर्षण दीखने लगा। पृथ्वी व अन्य ग्रहों सम्बन्धी नई धारणा के जितने प्रश्न अवशेष रह रहे थे; न्यूटन ने गुरुत्वा[illegible] के सिद्धान्त से हल किए।

गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त एक कल्पना की वस्तु ही नहीं रह गया था अपितु वह गणित सिद्ध भी मान लिया गया था। संक्षेप में हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं[1]—इस विश्व में प्रत्येक भौतिक पदार्थ प्रत्येक इतर भौतिक पदार्थ को एक ऐसे बल से अपनी ओर आकर्षित करता है जो इनके द्रव्यमानों पर अनुलोमतः और इनकी दूरी के वर्ग पर व्युत्क्रमतः निष्पन्न है। उदाहरण—"यदि पदार्थों के द्रव्यमानों का गुणनफल ४ है और दो अन्य पदार्थों के द्रव्यमानों का गुणनफल २० है तो पीछे वाले द्रव्यों में आकर्षण का बल पहले वालों का २०/४ अर्थात् ५ गुना होगा। यदि दो पदार्थों के बीच में ३० फीट का अन्तर है और दो अन्य पदार्थों के बीच में १२० फीट का तो पिछले वालों में जिसमें अन्तर पहले वालों से ४ गुना है, आकर्षण-बल उनका १/१६ गुना होगा।"

न्यूटन युग से लेकर अब तक गुरुत्वाकर्षण का विचार भूगोल और खगोल सम्बन्धी समस्याओं का एक आधारभूत समाधान रहा। सापेक्षवाद के युग में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अस्तित्व शून्य विचारों में अन्तर्गभित हो गया है। आईंस्टीन के कथनानुसार विश्व में कोई आकर्षण जैसी तथाकथित वस्तु नहीं है। विश्व की जो घटनायें आकर्षण रूप से हमें निष्पन्न लगती हैं वस्तुतः वे परिभ्रमणशील पदार्थों के वेगजनित देश का ही एक गुण है। गुरुत्वाकर्षण की कल्पना पर सापेक्षवादी युग में ऐसा सोचा जाने लगा है; एक नतोदर कमरे के बीच हम एक तकिया रख दें और फिर वहाँ बैठ कर उन चारों दिशाओं में चार गोलियाँ फेंकें। यह स्वाभाविक है कि उस कमरे की नतोदरता के कारण चारों गोलियाँ उस तकिये से आकर टकरायेंगी। हमारा कितना भ्रम होगा यदि हम यह कल्पना करें कि तकिये में कोई आकर्षण है। देखने की बात यह है कि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कल जो परम सत्य के रूप में सोचा जाता था आज वह किस स्थिति तक पहुँच गया है।

इस प्रकार बदलते निर्णयों में विज्ञान का सत्य हमेशा संदिग्ध रहता है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों ने जो अब तक नहीं जाना है, जो वस्तु-सत्य उनकी कल्पना में नहीं आ सकता है, उसे बहुत शीघ्र वे असत्य करार दे देते हैं। यह अपनी ज्ञानसरणिका अनुचित अहम् होता है। जिस विषय में विज्ञान ने अब तक नहीं सोचा है या सोचने पर भी जो बुद्धिगम्य नहीं हुआ है वह असत्य ही है यह कैसे हो सकता है? मनुष्य हमेशा अल्पज्ञ है। उसे अपनी अल्पज्ञता को भूल नहीं जाना चाहिए। विज्ञान के वातावरण में जो कुछ भी विज्ञान-सम्मत नहीं है; वह अन्ध-विश्वास की कोटि में डाल

---

१. ज्योतिर्विनोद से।

दिया जाता है, यह यथार्थता नहीं है क्योंकि विज्ञान सब कुछ जानकर कृतकृत्य तो नहीं हो गया है। वैज्ञानिक लोग कभी कभी जन-साधारण का अन्ध-विश्वास प्रकट करते करते अपना ही अन्ध-विश्वास प्रकट कर देते हैं। उल्कापात का विचार इस विषय में ज्वलन्त उदाहरण है। "सौर-परिवार" पृष्ठ ७०५ पर उल्का प्रकरण में "वैज्ञानिकों का अन्धविश्वास" शीर्षक से लिखा गया है—केवल जनता ही सदा अन्ध-विश्वास में नहीं होती। कभी कभी वैज्ञानिक भी अन्ध-विश्वासी होते हैं और जनता ठीक रास्ते पर रहती है। यूरोप में मध्यकालीन समय में जैसे जैसे विज्ञान की उन्नति होने लगी तैसे तैसे वैज्ञानिकों का विश्वास बढ़ता गया कि पत्थर आकाश से गिर नहीं सकते और इसलिए उन्होंने मान लिया कि वे कभी पहले गिरे भी नहीं थे। जनता की बातों को कि आकाश से पत्थर गिरते हुए देखे गये हैं, उन्होंने अन्ध-विश्वास का परिणाम समझा। इसलिए वे उनकी हँसी उड़ाया करते थे—जिन्होंने लिखा था कि ऐसी घटनायें प्रत्यक्ष देखी गई हैं। इस विषय में आलीबियर ने अपनी "उल्कायें" (Meteors) नामक पुस्तक में लिखा है—अब हम अठारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में आते हैं। इसके पहले वाली शताब्दियों में कई उल्का-प्रस्तर गिरे थे और उन का कोई एक स्पष्ट वर्णन उन लोगों ने किया था, जिन्होंने अपनी आँखों से देखा था। तिस पर भी इतना प्रमाण देते हुए हमको मूर्खता और पक्षपात के उदाहरण मिलते हैं, जिनको उस समय अच्छे वैज्ञानिकों के नेताओं ने दिखलाया। ये लोग निस्संदेह अपने को सबसे अधिक अग्रसर और 'आधुनिक' समझते थे और दूसरे भी उनको ऐसा समझते थे। इसे सब काल के लिए ऐसे व्यक्ति को चेतावनी समझनी चाहिए, जो ख्याल करता हो कि वह अपने अनुभव के बाहर की बातों का निश्चित रूप में निर्णय कर सकता है। फ्रांस की वैज्ञानिक एकेडमी ने लूसे में पत्थर गिरने के विषय में सच्ची बात की खोज करने के लिए एक कमीशन भेजा। अनेकों ऐसे गवाहों की जिन्होंने स्वयं अपनी आँखों से ऐसी घटनाओं को देखा था, गवाही लेने पर भी इस कमीशन ने यही निर्णय किया कि पत्थर गिरा नहीं, वह पृथ्वी पर का ही पत्थर था, केवल उस पर बिजली गिरी थी। इससे भी बुरा उदाहरण अभी आनेवाला था। सन् १७९० की २४ जुलाई को दक्षिण-पश्चिम फ्रांस में फिर पत्थर गिरे। बहुत से पत्थर गिरे और पृथ्वी में धस गए। इसके साथ की अन्य घटनायें (प्रकाश इत्यादि) सैंकड़ों मनुष्यों ने देखीं। तीन सौ से अधिक लिखी शहादतें, जिनमें से कई तो सौगन्ध खा कर सच्ची बताई गई थीं; पेश की गई और पत्थर के टुकड़े भी पेश किये गए। वैज्ञानिक पत्रिकाओं ने इनको छापा तो अवश्य, परन्तु केवल इसीलिए कि वे जनता की मूर्खता और गप्पों पर विश्वास करने की आदतों की हँसी उड़ा सकें। बर्थलन के शब्द—और कहा जाता है यह अन्य वैज्ञानिकों के मत को

भी शुद्ध रूप में प्रदर्शित करता है—यहाँ देने लायक हैं, "कमीशन की इस रिपोर्ट पर हम क्या टीका-टिप्पणी करें ? इस बात पर जो प्रत्यक्ष रूप से झूठी है, जो नितान्त असम्भव है, यह सच्ची गवाही पढ़कर जो विचार उठते हैं उसका निर्णय करना हम विज्ञ पाठकों के हाथों में छोड़ देते हैं।"

परन्तु इन वैज्ञानिकों का निर्णय सुना-अनसुना करके पत्थर फिर गिरे और जहाँ तहाँ गिरते ही रहे। अन्त में १८०३ में फ्रांस के एक ग्राम पर पूरी बौछार पड़ी। तब वैज्ञानिक एकेडमी का पहले वाला दृढ़ विश्वास हिल गया और अन्त में प्रसिद्ध वैज्ञानिक बायो (Biot) इस बात की जाँच के लिए भेजा गया। उसने सिद्ध किया कि पत्थर वस्तुतः गिरते हैं और वे आकाश ही से आते हैं। तब से इन उल्का-प्रस्तरों के विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता ही गया।

कभी कभी एक स्थान में, एक ही समय में अनेकों उल्का-प्रस्तर गिरते हैं। सन् १८३० में फ्रांस के एक स्थान में दो तीन हजार पत्थर गिरे। वहाँ के निवासी व्याकुल हो गये। पोलैण्ड के पुल्टुस्क नगर में एक बार १०,०००० पत्थर गिरे थे, और हंगरी में भी एक बार इसी प्रकार वर्षा हुई थी। अभी हाल में अरिज़ोना (Arizona) में १९ जुलाई १९१२ को १४००० पत्थर गिरे थे। कभी कभी तो उल्काएँ वायुमण्डल में टूटकर टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं परन्तु अधिकतर वे हमारे वायुमण्डल में घुसने के पहले ही टुकड़े टुकड़े हुई रहती हैं। यह बात इन टुकड़ों के आकार से जान पड़ती है। पृथ्वी के पास आकर टूटे हुए टुकड़े अधिक कोर दार होते हैं। फिर कोई कोई उल्कायें चन्द्रमा जैसी बड़ी जान पड़ती हैं जिससे पता चलता है कि वस्तुतः उनके कभी टुकड़े होते होंगे और सबों के साथ ही जलने से हमें एक ही बहुत बड़ी उल्का दिखलायी पड़ती है। बिजली के तड़पने ऐसी जो कड़क सुनाई देती है वह साधारणतः उल्काओं के टूटने की आवाज नहीं रहती। उनके बहुत गर्म हो जाने से और उनमें अत्यन्त वेग होने के कारण यह आवाज उत्पन्न होती है क्योंकि उल्का-प्रस्तरों के गिरने में बहुत कम समय लगता है।"

उल्कापात का विषय इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में बहुत दिनों तक असम्भव माना जाता रहा, और जब यह विषय सम्भव मान लिया गया तब से तो उल्कापात की बड़ी बड़ी घटनाओं का एक समुचित इतिहास बन गया है।

इस प्रकार के और भी अनेकों उदाहरण हैं जो कि विज्ञान की परिवर्तनशीलता को व्यक्त करते हैं। विज्ञान जिस अहम् से दर्शन को एक दुर्बल मस्तिष्क की उपज मानकर आगे बढ़ा था, प्रकृति ने उस अहम् को अधिक दिन नहीं जीने दिया। आज विज्ञान अपने समस्त निर्णयों में स्वयं सन्देहशील है। प्रकृति के नये रहस्यों को ज्यों ज्यों वह अपने हाथों खोलता जाता है, अपना अज्ञान कितना बड़ा है यह

समझने की भूमिका बनाता जाता है । वैज्ञानिक जगत में ये शब्द आज चारों ओर गूंजने लगे हैं—

"हम लोग हमारे अज्ञान का फैलाव कितना बड़ा है, यह और अच्छी तरह से समझने और महसूस करने लगे हैं।"[1]

सर जेम्सजीन्स लिखते हैं—"शायद यह अच्छा हो कि विज्ञापन नित नई घोषणा करना छोड़ दे, क्योंकि ज्ञान की नदी बहुत बार अपने आदि-श्रोत की ओर बह चुकी है।"[2]

एक दूसरी जगह वे लिखते हैं—"बीसवीं सदी का महान आविष्कार सापेक्षवाद या क्वन्तम् सिद्धान्त नहीं है और न परमाणु विभाजन ही। इस सदी का महान आविष्कार तो यह है कि वस्तुएँ वैसी नहीं हैं जैसी कि वे दीखती हैं। इसके साथ सर्वमान्य बात तो यह है, हम अब तक परम वास्तविकता के पास नहीं पहुँचे हैं।"[3]

इस प्रकार हम सहज ही इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि विज्ञान ने दर्शन के साथ बगावत कर परम सत्य तक पहुँचने का जो एक स्वतन्त्र मार्ग निकाला था वह भी इतना सीधा नहीं निकला जितना कि समझा गया था । फिर भी हमें समझ लेना चाहिए कि दर्शन और विज्ञान में संघर्ष से कहीं अधिक समन्वय है। दर्शन के पीछे जैसी एक बहुत लम्बी ज्ञान परम्परा है विज्ञान में सत्य-ग्रहण की एक उत्कट लालसा है। जो असत्य लगा उसे पकड़े रहने का आग्रह वैज्ञानिकों ने कभी नहीं किया। दर्शन ने जैसे आगे चलकर अनेक पथ बनाये—यह 'वैदिक दर्शन', यह 'बौद्ध दर्शन', यह 'जैन दर्शन' आदि, इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में अब तक विभिन्न मार्गों का उदय नहीं हुआ। सभी वैज्ञानिक आज नहीं तो कल एक ही मार्ग पर आ जाते हैं । जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से भी दर्शन और विज्ञान दोनों का स्वतन्त्र महत्त्व है । दोनों ही सत्य की मञ्जिल पर पहुँचने के मार्ग हैं परन्तु दर्शन का विकास मुख्यतया आत्म-

---

1. "We are beginning to appreciate better, and more thoroughly, how great is the range of our ignorance." —*Ibid, p. 60.*

2. Science should leave off making pronouncement, the river of knowledge has too often turned back on itself.
—*The Mysterious Universe, p. 138.*

3. The outstanding achievement of twentieth century physics is not the theory of relativity with its wielding together of space and time, or the theory of quantum with its present apparent negation of the laws of causation, or the dissection of the atom with the resultant discovery that things are not what they seem. It is the general recognition that we are not yet in contact with ultimate reality.
—*The Mysterious Universe, p. 3.*

वाद के रूप में निखरा । इससे मनुष्य को आत्म-साक्षात्, कैवल्य व धृति, क्षमा, सन्तोष, अहिंसा, सत्य आदि मिले। विज्ञान का विकास आधिभौतिक ही रहा। इससे मनुष्य को दुर्लभ भौतिक सामर्थ्य मिले । भौतिक सामर्थ्य के अभाव में मनुष्य जी सकता है, वह भी आनन्द से, पर आध्यात्मिक व नैतिक सामर्थ्य के बिना भौतिक साधनों के ढेर में दब मरने के सिवाय मनुष्य के पास कोई चारा नहीं रह जाता।

२

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

स्याद्वाद भारतीय दर्शनों की एक संयोजक कड़ी और जैन दर्शन का हृदय है। इसके बीज आज से सहस्रों वर्ष पूर्व संभाषित जैन आगमों में उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य; स्यादस्ति स्यान्नास्ति; द्रव्य, गुण, पर्याय; सप्त-नय आदि विविध रूपों में विखरे पड़े हैं। सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैन-दार्शनिकों ने सप्त भंगी आदि के रूप में तार्किक पद्धति से स्याद्वाद को एक व्यवस्थित रूप दिया। तदनन्तर अनेकों आचार्यो ने इस पर अगाध वाङ्मय रचा जो आज भी उसके गौरव का परिचय देता है। विगत १५०० वर्षो में स्याद्वाद दार्शनिक जगत् का एक सजीव पहलू रहा और आज भी है।

सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत में बीसवीं सदी की एक महान् देन समझा जाता है। इसके आविष्कर्ता सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० अलबर्ट आईंस्टीन हैं जो पाश्चात्य देशों में सर्वसम्मति से संसार के सबसे अधिक दिमागी पुरुष माने गये हैं। सन् १९०५ में आईंस्टीन ने 'सीमित सापेक्षता' शीर्षक एक निबन्ध लिखा जो 'भौतिक शास्त्र का वर्ष पत्र' (Year book) नामक जर्मनी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध ने वैज्ञानिक जगत में अजीब हलचल मचा दी थी। सन् १९१६ के बाद उन्होंने अपने सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया जिसका नाम था—'असीम सापेक्षता।' सन् १९२१ में उन्हें इसी खोज के उपलक्ष में भौतिक विज्ञान का 'नोबेल' पुरस्कार मिला। सचमुच ही आईंस्टीन का अपेक्षावाद विज्ञान के शान्त समुद्र में एक ज्वार था। उसने विज्ञान की बहुत सी बद्धमूल धारणाओं पर प्रहार कर एक नया मानदण्ड स्थापित किया। अपेक्षावाद के मान्यता में आते ही न्यूटन के काल से धाक जमाकर बैठे हुए गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravitation) का सिंहासन डोल उठा। 'ईथर' (Ether) नाम-शेष होने से बाल बाल ही बच पाया व देश-काल की धारणाओं ने भी एक नया रूप ग्रहण किया। अस्तु; बहुत सारे विरोधों के पश्चात् अपनी गणित सिद्धता के कारण आज वह अपेक्षावाद निर्विवादतया एक नया आविष्कार मान लिया गया है। इस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में समुद्भूत स्याद्वाद और वैज्ञानिक जगत् में नवोदित सापेक्षवाद का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

नाम साम्य

स्याद् और वाद दो शब्द मिलकर स्याद्वाद की संघटना हुई है। स्यात् कथंचित् का पर्यायवाची संस्कृत भाषा का एक अव्यय है। इसका अर्थ है 'किसी प्रकार से' 'किसी अपेक्षा से'। वस्तु तत्त्व निर्णय में जो वाद अपेक्षा की प्रधानता पर आधारित है वह स्याद्वाद है। यह इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है।

सापेक्षवाद Theory of Relativity का हिन्दी अनुवाद है। वैसे यदि हम इसका अक्षरशः अनुवाद करते हैं तो वह होता है 'अपेक्षा का सिद्धान्त' पर विश्व की रूपरेखा, विज्ञान हस्तामलक प्रभृति हिन्दी ग्रन्थों में इसे सापेक्षतावाद या सापेक्षवाद ही कहा गया है। तत्त्वतः, सापेक्षवाद का भी वही शाब्दिक अर्थ है जो स्याद्वाद का। 'अपेक्षया सहितं सापेक्षं' अर्थात् अपेक्षा करके सहित जो है वह सापेक्ष है। अतः वह अपेक्षा सहित वाद सापेक्षवाद है। इस प्रकार यदि स्याद्वाद को सापेक्षवाद व सापेक्षवाद को स्याद्वाद कहा जाय तो शाब्दिक दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं उठती। यही तो कारण है कि हिन्दी लेखकों ने जैसे थियोरी ऑफ रिलेटिविटी का अनुवाद सापेक्षवाद (स्याद्वाद) किया वैसे ही सर राधाकृष्णन् प्रभृति अंग्रेजी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में स्याद्वाद का अनुवाद Theory of Relativity[1] किया। इस प्रकार दो विभिन्न क्षेत्रों से प्रारम्भ हुए दो सिद्धान्तों का तथा प्रकार का नाम-साम्य एक महान् कुतूहल तथा जिज्ञासा का विषय है।

सहज भी, कठिन भी

दोनों ही सिद्धान्त अपने अपने क्षेत्र में सहज भी माने गये हैं और कठिन भी। स्याद्वाद को ही लें—इसकी जटिलता विश्व-प्रसिद्ध है। जहाँ जैनेतर दिग्गज विद्वानों ने इसकी समालोचना के लिए कलम उठाई वहाँ उनकी समालोचनायें स्वयं बोल पड़ी हैं—उन्होंने स्याद्वाद को समझा ही नहीं है। प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा एम० ए०, डी०लिट्०, एल० एल० डी० लिखते हैं—"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा किया गया जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा है। और जो कुछ अब तक मैं जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मुझे यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शंकराचार्य) जैन धर्म को उसके असली ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने को कोई बात नहीं मिलती।"[2]

---

१. इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ ३०५।

२. जैन-दर्शन, १६ सितम्बर १९३४।

स्याद्वाद के विषय में उसकी जटिलता के कारण ऐसे विवेचनों की बहुलता यत्र तत्र दीख पड़ती है । इस जटिलता को भी आचार्यों ने कहीं कहीं इतना सहज़ बना दिया है कि जिससे सर्वसाधारण भी स्याद्वाद के हृदय तक पहुँच सकते हैं । जब आचार्यों के सामने यह प्रश्न आया कि एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश, और ध्रुवता[1] जैसे परस्पर विरोधी धर्म कैसे ठहर सकते हैं तो स्याद्वादी आचार्यों ने कहा—"एक स्वर्णकार स्वर्ण-कलश तोड़कर स्वर्ण-मुकुट बना रहा था, उसके पास तीन ग्राहक आये । एक को स्वर्ण-घट चाहिये था, दूसरे को स्वर्ण-मुकुट और तीसरे को केवल सोना । स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ कि यह स्वर्ण कलश को तोड़ रहा है । दूसरे को हर्ष हुआ कि यह मुकुट तैयार कर रहा है । तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ भावना में रहा क्योंकि उसे तो सोने से काम था । तात्पर्य यह हुआ एक ही स्वर्ण में उसी समय एक विनाश देख रहा है, एक उत्पत्ति देख रहा है और एक ध्रुवता देख रहा है । इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से त्रिगुणात्मक है ।"[2] आचार्यों ने और अधिक सरल करते हुए कहा—"वही गोरस दूध रूप से नष्ट हुआ, दधि रूप में उत्पन्न हुआ, गोरस रूप में स्थिर रहा । जो पयोव्रती है वह दधि को नहीं खाता, दधिव्रती पय नहीं पीता और गोरस त्यागी दोनों को नहीं खाता, पीता[3] ।" ये विरुद्ध धर्मो की सकारण स्थितियां हैं । इसलिये वस्तु में नाना अपेक्षाओं से नाना विरोधी धर्म रहते ही हैं । इसी प्रकार जब कभी राह चलते आदमी ने भी पूछ लिया कि आपका स्याद्वाद क्या है तो आचार्यों ने कनिष्ठा व अनामिका सामने करते हुए पूछा[4]—दोनों में बड़ी कौनसी है ? उत्तर मिला—अनामिका बड़ी है । कनिष्ठा को समेटकर और मध्यमा को फैलाकर पूछा—दोनों अंगुलियों में छोटी कौनसी है ?

---

१ उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्—श्री भिक्षु न्याय कर्णिका ।

२. घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पाद स्थितिष्वयम् ।
शोक प्रमोद माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

—शास्त्र वार्ता समुच्चय ।

३. उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः ।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादविड् जनोऽपि कः ॥१॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद वस्तु त्रयात्मकम् ॥२॥

४. यथा अनामिकायाः कनिष्ठा मधिकृत्य दीर्घत्वं, मध्यमा मधिकृत्य ह्रस्वत्वम् ।

—प्रज्ञासूत्र वृत्तिः पद भाषा ११ ।

उत्तर मिला—अनामिका। आचार्यों ने कहा—यही हमारा स्याद्वाद है जो तुम एक ही अंगुली को बड़ी भी कहते हो और छोटी भी। यह स्याद्वाद की सहजगम्यता है।

सापेक्षवाद की भी इस दिशा में ठीक यही गति है। कठिन तो वह इतना है कि बड़े बड़े वैज्ञानिक भी इसको पूर्णतया समझने व समझाने में चक्कर खा जाते हैं। कहा जाता है कि यह सिद्धान्त गणित की ग्रुत्थियों से इतना भरा है कि इसे अब तक संसार भर में कुछ सौ आदमी ही पर्याप्त रूप से जान पाये हैं।[1] सापेक्षवाद की जटिलता के बहुत से उदाहरणों में एक उदाहरण यह भी है जो साधारणतया बुद्धि-गम्य भी नहीं हो रहा है कि यदि दो मनुष्यों की भेंट हो तो उन दो भेंटों के बीच का अन्तर एक ही (समान ही) होना चाहिए—यह एक दृष्टिकोण से सत्य है, एक से नहीं। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि वे दोनों घर पर ही रहे हों या उन में से कोई एक विश्व के किसी दूर भाग की यात्रा करके इसी बीच में आया हो।[2]

सापेक्षवाद की जटिलता को प्रो० मैक्सबोर्न ने अत्यन्त विनोदपूर्ण ढंग से समझाया है। वे लिखते हैं—"मेरा एक मित्र एक बार किसी डिनर पार्टी में गया। उसके पास बैठी हुई एक महिला ने कहा—प्राध्यापक महोदय! क्या आप मुझे थोड़े शब्दों में बताने का कष्ट करेंगे कि वास्तव में सापेक्षवाद है क्या? उसने विस्मित मुद्रा में उत्तर दिया—क्या तुम यह चाहोगी कि उससे पूर्व मैं तुम्हें एक कहानी सुना दूँ। मैं एक बार अपने एक फ्रांसीसी मित्र के साथ सैर के लिये गया। चलते चलते हम दोनों प्यासे हो गये। इतने में हम एक खेत पर आये। मैंने अपने मित्र से कहा—यहाँ हमें कुछ दूध खरीद लेना चाहिए। उसने कहा—दूध क्या होता है? मैंने कहा—तुम नहीं जानते, पतला और धोला धोला······। उसने कहा—धोला क्या होता है? मैंने कहा—धोला होता है जैसा बतक। उसने कहा—बतक क्या होता है? मैंने कहा—एक पक्षी जिसकी गर्दन मोड़दार होती है। उसने कहा—मोड़ क्या होती

---

1. "It is so mathematical that only a few hundred men in the world are competent to discuss it."

—*Cosmology Old and New, p. 127.*

2. "If two people meet twice they must have lived the same time between the two meetings" is true from one point of view and not from another. It all depends upon whether both of them have been stay-at-home or one has travelled to a distant part of the Universe and then came back in the interim.

—*Cosmology Old and New, p. 206.*

है ? मैंने अपनी बाँह को इस प्रकार से टेढ़ी करके उसे दिखाया—मोड़दार इसे कहते हैं। तब उसने कहा—अच्छा अब में समझ गया दूध क्या है ? इस कहानी को सुन लेने के बाद उस भद्र महिला ने कहा—मुझे सापेक्षवाद क्या है अब यह जानने की कोई दिलचस्पी नहीं रही है[1] ।"

सापेक्षवाद की कठिनता के इन कुछ उदाहरणों की तरह सरलता के उदाहरणों की भी कमी नहीं है पर यहाँ मात्र एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । सापेक्षवाद के आचार्य प्रो० अलबर्ट आईस्टीन से उनकी पत्नी ने कहा—"मैं सापेक्षवाद कैसा है कैसे बतलाऊँ ?" आईस्टीन ने एक दृष्टान्त में जवाब दिया—"जब एक मनुष्य एक सुन्दर लड़की से वात करता है तो उसे एक घण्टा एक मिनट जैसा लगता है। उसे ही एक गर्म चूल्हे पर बैठने दो तो उसे एक मिनट एक घंटे के बराबर लगने लगेगा—यही सापेक्षवाद है ।" इसीलिये कहा गया है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद कठिन भी है और सहज भी ।

व्यावहारिक सत्य व तात्त्विक सत्य

स्याद्वाद में नयों की बहुमुखी विवक्षा है; पर यहाँ केवल व्यवहार-नय व निश्चय-नय को ही लेते हैं । इनकी व्याख्या करते हुए आचार्यो ने कहा है[2]—"निश्चय-नय वस्तु के तात्त्विक (वास्तविक) अर्थ का प्रतिपादन करता है और व्यवहार-नय केवल लोक-व्यवहार का ।" एक बार गोतम स्वामी ने भगवान् श्री महावीर से पूछा—"भगवन् ![3] फाणित-प्रवाही गुड में कितने वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श होते हैं ?" भगवान् महावीर ने कहा—"मैं इन प्रश्नों का उत्तर दो नयों से देता हूँ । व्यवहार-नय की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है पर निश्चय-नय की अपेक्षा से उसमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस व ८ स्पर्श हैं ।" अगला प्रश्न गोतम स्वामी ने किया—"प्रभो ! [4]भ्रमर

---

1. *Cosmology Old and New, p. 197.*

२. तत्त्वार्थ निश्चयो वक्ति व्यवहारश्च जनोदितम् ।

—द्रव्यानुयोगतर्कणा ८२३ ।

३. फाणियगुलेणं भन्ते ! कइ वण्णे, कइ गन्धे, कइ रसे, कई फासे पण्णत्ते ? गोयमा ! एत्थणं दो नया भवन्ति तं निच्छइएणएय, वावहारियणएय । वावहारियणयस्स गोड्डे फाणियगुले, निच्छइयणयस्य पंचवण्णे, दुगन्धे, पंचरसे, अठ फासे ।

—भगवती १८-६ ।

४. भमरेणंभन्ते ! कइवण्णे पुच्छा ? गोयमा ! एत्थणं दो नया भवति तंजहा-णिच्छइयणएय, वावहारियणएय । वावहारियणयस्स कालए भमरे, णिच्छइयणयस्स पंचवण्णे जाव अठ फासे ।

—भगवती १८-६ ।

में कितने वर्ण हैं ?" उत्तर मिला—"व्यवहार-नय से तो भ्रमर काला है अर्थात् एक वर्णवाला है पर निश्चय-नय की अपेक्षा से उसमें श्वेत कृष्ण, नील आदि पाँच वर्ण हैं ।" इसी प्रकार राख[१] और शुक-पिच्छि[२] के लिये भगवान् महावीर ने कहा—"व्यवहार-नय की अपेक्षा से यह रूक्ष और नील है पर निश्चय-नय की अपेक्षा से पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस व आठ स्पर्श वाले हैं ।" तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु का इन्द्रिय ग्राह्य स्वरूप कुछ और होता है और वास्तविक स्वरूप कुछ और। हम वाह्य स्वरूप को देखते हैं जो इन्द्रिय ग्राह्य है। सर्वज्ञ वाह्य व आन्तरिक (नैश्चयिक) दोनों स्वरूपों को यथावत् जानते हैं व देखते हैं । सापेक्षवाद के अधिष्ठाता प्रो० अलवर्ट आईंस्टीन भी यही कहते हैं—"We can only know the relative truth, the Absolute truth is known only to the Universal observer."[3] हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है।"

स्याद्वाद में जिस प्रकार गुड, भ्रमर, राख, शुक-पिच्छि आदि के उदाहरणों से परमार्थ सत्य व व्यवहार सत्य को समझाया गया है उसी प्रकार आईंस्टीन ने भी अपने सापेक्षवाद में ऐसे उदाहरणों का प्रयोग किया है । वहाँ वताया गया है—जिस किसी घटना के वारे में हम कहते हैं कि यह घटना आज या अभी हुई; हो सकता है कि वह घटना सहस्रों वर्ष पूर्व हुई हो। जैसे—एक दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी पर दो चक्करदार नीहारिकाओं (क, ख) में विस्फोट हुए और वहाँ दो नये तारे उत्पन्न हुए । इन नीहारिकाओं में उपस्थित दर्शकों के लिये अपने यहाँ की घटना तुरन्त हुई मालूम होगी, किन्तु दोनों के वीच लाखों प्रकाश वर्षों की दूरी होने से 'क' का दर्शक 'ख' की घटना को एक लाख वर्ष वाद घटित हुई कहेगा, जव कि दूसरा दर्शक अपनी घटना को तुरन्त और 'क' की घटना को एक लाख वर्ष वाद घटित होने वाली वतायेगा । इस प्रकार विस्फोट का परमार्थ काल नहीं सापेक्ष काल ही वताया जा सकता है।"[४]

---

१. छारियाणंभन्ते ! पुच्छा ? गोयमा ! एत्थणं दो नया भवन्ति तंजहा-णिच्छइयणएय, वावहारियणएय। वावहारियणयस्स लुक्खा छारिया, णेच्छइयस्स पंच वण्णे जाव अठ फासे पण्णते। —भगवती १८-६।

२. सुयपिच्छेणं भन्ते ! कइवण्णे पण्णत्ते ? एवं चेव णवरं वावहारियणयस्स णीलए सुअपिच्छे, णेच्छइयस्स णयस्स से सन्तं चेव । —भगवती १८-६।

3. Cosmology Old and New, p. 201.

४. विश्व की रूपरेखा, अध्याय १, पृष्ठ ६२-६३ प्र० सं।

उदाहरण को स्पष्ट करने के लिये तत्संबन्धी वैज्ञानिक मान्यता को कुछ स्पष्ट करना होगा। आधुनिक विज्ञान के मतानुसार प्रकाश एक सेकिण्ड में १,८६,००० मील गति करता है। उसी गति से जितनी दूर वह एक वर्ष में जाता है उस दूरी को एक प्रकाश वर्ष कहते हैं। ब्रह्माण्ड में एक दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष दूरी पर अनेकों तारिका पुञ्ज हैं। एक नीहारिका में होने वाला प्रकाशात्मक विस्फोट एक लाख प्रकाश वर्ष दूर स्थित अन्य नीहारिका में या हमारी पृथ्वी पर यदि हम उससे उतनी ही दूर हैं तो एक लाख वर्ष बाद में दीखेगा क्योंकि प्रकाश को हम तक पहुँचने में १ लाख वर्ष लगेंगे। किन्तु हमें ऐसे लगेगा कि यह घटना अभी ही हो रही है जिसे हम देख रहे हैं। सारांश यह हुआ कि मनुष्य बहुत अर्थों में व्यावहारिक सत्य को ही अपनाकर चलता है। यदि उस नीहारिका का कोई प्राणी हम से मिले व उस घटना के विषय में बात करे तो हमारा और उसका निर्णय एक दूसरे से उल्टा होगा; पर अपने अपने क्षेत्र की अपेक्षा से दोनों निर्णय सही होंगे।

स्याद्वाद-शास्त्र की सप्त भंगी भी प्रत्येक वस्तु को स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से 'अस्ति' (है) स्वीकार करती है; और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से 'नास्ति' (नहीं है) स्वीकार करती है। जैसे हम एक घट के विषय में कहते हैं कि यह मिट्टी का घड़ा है, यह राजस्थान का बना है, यह ग्रीष्म ऋतु में बना हुआ है, यह गौर वर्ण अमुक नाम का है; उसी समय उसी घट के विषय में दूसरा व्यक्ति कहता है—यह स्वर्ण का घट नहीं है, यह विदर्भ प्रान्त का घट नहीं है, यह हेमन्त काल का घट नहीं है, यह श्याम वर्ण व अमुक प्रकार का घट नहीं है। यहाँ 'है' व 'नहीं है' देश-काल सापेक्ष हैं। स्याद्वाद की तरह सापेक्षवाद में भी तथा प्रकार के सापेक्ष उदाहरणों की बहुलता है, जो नयवाद व सप्त भंगी द्वारा समर्थन पाते हैं। प्रो० एडिंगटन दिशा की सापेक्ष स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—"सापेक्ष स्थिति को समझने के लिये सब से सहज उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का है। एडिनबर्ग की अपेक्षा से केम्ब्रिज की एक दिशा है और लन्दन की अपेक्षा से एक अन्य दिशा है। इसी तरह और और अपेक्षाओं से। हम यह कभी नहीं सोचते कि उसकी वास्तविक दिशा क्या[1] है?"

---

1. A more familiar example of a relative quantity is 'direction' of an object. There is a direction of Cambridge relative to Edinburgh and another direction relative to London, and so on. It never occurs to us to think of this as discrepancy or to suppose that there must be same direction of Cambridge (at present undiscoverable) which is absolute. —*The Nature of Physical World, p. 26.*

उसी पुस्तक में आगे वे सत्य व वास्तविक सत्य को सुस्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"तुम किसी कम्पनी के आय-व्यय का चिट्ठा लो जो गणितज्ञ के द्वारा परीक्षित है। तुम कहोगे यह सत्य है पर वह वास्तव में सत्य है क्या ? मैं यह किसी धूर्त कम्पनी के लिये नहीं कह रहा हूँ पर सच्ची कम्पनी के चिट्ठे में भी वस्तुओं की उस क्षण की कीमत और उसकी अंकित कीमत में महान् अन्तर होगा अतः हीडन रिजर्व (Hidden reserves) की दृष्टि से जितनी अधिक सच्ची कम्पनी होगी वह उतना ही अधिक होगा।"

स्याद्वाद के क्षेत्र में भगवान् महावीर ने सैंकड़ों प्रश्नों का उत्तर अपेक्षाओं के आधार पर विभिन्न प्रकार से दिया। सृष्टि के मूलभूत सिद्धान्तों को भी उन्होंने सापेक्ष बताया। परमाणु नित्य (शाश्वत) है या अनित्य—इस प्रश्न पर उन्होंने बताया—'वह[1] नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्यत्व की अपेक्षा से वह नित्य है। वर्ण पर्याय (बाह्य स्वरूप) आदि की अपेक्षा से अनित्य है; प्रति क्षण परिवर्तनशील है।" यही उत्तर भगवान् महावीर ने आत्मा के विषय में दिया[2]। प्राकृतिक स्थितियों के विषय में आइंस्टीन भी अपेक्षा-प्रधान बात कहते हैं। सापेक्षवाद के पहले सूत्र में उन्होंने यह कहा—"प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसा ही क्यों न हो वास्तविक गति का निर्णय असम्भव ही है,[3]।" ऐसा क्यों ? इसका उत्तर सर जेम्स जीन्स के शब्दों में पढ़िये—"गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म है। एक जहाज जो स्थित है वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थिर है लेकिन पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाये तो जहाज सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जायेगा किन्तु दोनों तब भी इर्द गिर्द के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गति-शून्य हो जाए तो भी ग्रह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील ही मिलेंगे। आकाश में इस प्रकार यदि हम

---

१. परमाणु पोग्गलेणं भन्ते ! सासए, असासए ? गोयमा ! सिय सासए सिय असासए। से केण ठेणं भन्ते ! एवं वुच्वइ सिय सासए, सिय असासए ? गोयमा ! दव्वठयाए सासए वण्ण पंचमेहिं जाव फासवज्जवेहिं असासए से तेण ठेणं जाव सिय सासए। —भगवती शतक १४-३४।

२. जीवाणं भन्ते ! किं सासया असासया ? गोयमा ! जीव सिय सासया सिय असासया। से केणं ठेणं भन्ते ! एवं वुच्वइ जीवा सिय सासया सिय असासया ! गोयमा ? दव्वठयाए सासया भावठयाए असासयां। —भगवती श० ७ उ० २।

3. Nature is such that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever. —*Mysterious Universe, p. 78.*

आगे से आगे जाएँगे तो हमें पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नहीं मिलेगी[1]।" तात्पर्य यह हुआ कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक ग्रह व प्रत्येक पदार्थ चर भी है और स्थिर भी है। स्याद्वादी कहते हैं—परमाणु नित्य भी हैं और अनित्य भी; संसार शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। यहाँ यह देखने की आवश्यकता नहीं कि स्याद्वाद के निर्णय सापेक्षवाद को व सापेक्षवाद के निर्णय स्याद्वाद को मान्य हैं या नहीं किन्तु देखना यह है कि वस्तुतथ्य को परखने की पद्धति कितनी समान है और दोनों ही वाद कितने अपेक्षानिष्ठ हैं।

'अस्ति', 'नास्ति' की बात जैसे स्याद्वाद में पद पद पर मिलती है वैसे ही 'है और नहीं' (अस्ति, नास्ति) की बात सापेक्षवाद में भी पद पद पर मिलती है। जिस पदार्थ के विषय में साधारणतया हम कहते हैं कि यह १५४ पौण्ड का है। सापेक्षवाद कहता है यह है भी और नहीं भी। क्योंकि भूमध्यरेखा पर यह १५४ पौण्ड है पर दक्षिणी या उत्तरी ध्रुव पर यह १५५ पौण्ड है। गति तथा स्थिति आदि को लेकर वह और भी बदलता रहता है[2]। इसी तरह गुरुत्वाकर्षण के विषय में आईस्टीन ने एक प्रयोग द्वारा बताया—एक आदमी लिफ्ट में है। उसके हाथ में सेम है। ज्योंही लिफ्ट नीचे गिरना शुरू होता है वह आदमी सेम को गिराने के लिए हथेली को औंधा कर देता है। स्थिति यह होगी—चूंकि लिफ्ट के साथ गिरने वाले मनुष्य की नीचे जाने की गति सेम से भी अधिक है अतः मनुष्य को लगेगा कि सेम मेरी हथेली से चिपक रही है तथा मेरे हाथ पर उसका दबाव भी पड़ रहा है। परिणाम यह होगा कि पृथ्वी पर खड़े मनुष्य की अपेक्षा से तो सेम गुरुत्वाकर्षण से नीचे आ रही है किन्तु लिफ्ट में

---

1. Rest and motion are merely relative terms. A ship which is becalmed is at rest only in a relative sense—relative to the earth; but the earth is in motion relative to the sun, and the ship with it. If the earth which stayed in its course round the sun. The ship would become at rest relative to the sun, but both would still be moving through the surrounding stars. Check the sun's motion through the stars and there still remains the motion of the whole galactic system of stars relative to the remote-nebulæ. And these remote-nebulæ move towards or away from one another with speeds of hundreds miles a second or more; by going further into space we not only find standard of absolute rest, but encounter great and greater speed of motion.

—*The Mysterious Universe by Sir James Geans p. 79*

2. *Cosmology Old and New p. 205*

रहे मनुष्य की अपेक्षा से गुरुत्वाकर्षण कोई वस्तु नहीं है[1]। इसलिए वह है भी और नहीं भी। यहाँ आइंस्टीन ने गुरुत्वाकर्षण को केवल उदाहरण के लिए ही माना है। वैसे उसने वैज्ञानिक जगत् से उसका अस्तित्व ही मिटा दिया है।

स्याद्वाद बताता है—"वस्तु अनन्त धर्मात्मक है[2]।" अर्थात् वस्तु अनन्त गुण व विशेषताओं को धारण करने वाली है। जब हम किसी वस्तु के विषय में कुछ भी कहते हैं तो एक धर्म को प्रमुख व अन्य धर्म को गौण कर देते हैं। हमारा वह सत्य केवल आपेक्षिक होता है। अन्य अपेक्षाओं से वही वस्तु अन्य प्रकार की भी होती है। निम्बु के सामने नारंगी को बड़ी कहते हैं किन्तु पदार्थ धर्म की अपेक्षा से नारंगी में जैसे बड़ापन है वैसे ही छोटापन भी। किन्तु वह प्रकट तब होता है जब खरबूजे के साथ उसकी तुलना करते हैं। गुरुत्व व लघुत्व जो हमारे व्यवहार में आते हैं वे मात्र व्यावहारिक या आपेक्षिक हैं। वास्तविक (अन्त्य) गुरुत्व तो लोकव्यापी महास्कन्ध में है और अन्त्य लघुत्व परमाणु में[3]। अब इसके साथ सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन के वक्तव्य की भी तुलना करें। वे लिखते हैं—"मैं सोचता हूँ हम बहुधा सत्य व वास्तविक सत्य के बीच एक रेखा खींचते हैं। एक वक्तव्य जो कि केवल पदार्थ के बाह्य स्वरूप से ही सम्बन्ध रखता है कहा जा सकता है कि वह सत्य है। एक वक्तव्य जो कि केवल बाह्य स्वरूप को ही व्यक्त नहीं करता परन्तु उसकी सतह में रही सच्चाई को भी प्रकट करता है वह वास्तविक सत्य है[4]।" स्याद्वाद व सापेक्षवाद की तथा प्रकार की विस्मयोत्पादक समता को देखकर यह तो मान लेना पड़ता है कि स्याद्वाद कोई अधूरे तथ्यों का संग्रह नहीं; अपितु वस्तुतथ्य को पाने का एक यथार्थ मार्ग है जो आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जैन दार्शनिकों ने खोज निकाला था। उसके तथ्य

---

1. *Cosmology Old and New p. 197*

२. अनन्त धर्मात्मकं सत्।

३. सौक्ष्म्यं द्विविधं अन्त्यमापेक्षिकञ्च। तत्र अन्त्यं परमाणोः; आपेक्षिकं यथा नालिकेरापेक्षया आम्रस्य। स्थौल्यमपि द्विविधं तत्र अन्त्यं अशेष लोकव्यापिमहास्कन्धस्य आपेक्षिकं यथा आम्रापेक्षया नालिकेरस्य।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका; प्रकाश १, सूत्र १२।

4. I think we often draw a distinction between what is true and what is really true. A statement which does not profess to deal with any thing except appearances may be true; a statement which is not only true but deals with the realities beneath the appearances is really true.

जितने दार्शनिक हैं उतने ही वैज्ञानिक भी। वह केवल कल्पनाओं का पुलिन्दा नहीं किन्तु जीवन का व्यावहारिक मार्ग है। इसीलिए तो आचार्यों ने कहा है—"उस जगद्गुरु स्याद्वाद महासिद्धान्त को नमस्कार हो जिसके विना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता[1]।"

सहस्रों वर्ष पूर्व और आज

स्याद्वाद और सापेक्षवाद के कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो अनायास गंगा यमुना की तरह एकीभूत होकर वहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि स्याद्वाद के क्षेत्र में वे आज से सहस्रों वर्ष पूर्व एक व्यवस्थित विधि में रख दिये गये हैं और सापेक्षवाद के क्षेत्र में वे आज चिन्तन की स्थिति पर क्रमिक विकास पा रहे हैं। उदाहरणार्थ—सत्यासत्य की मीमांसा करते हुए रेखागणित व माप-तोल के विषय में सापेक्षवाद के अनुसार माना गया है—"रेखागणित के अनुसार रेखा वह है जिसमें लम्बाई हो पर चौड़ाई या मुटाई न हो। विन्दु में मुटाई भी नहीं होती। दुनिया में ऐसी रेखा नहीं देखी गई जिसमें चौड़ाई या मुटाई न हो। वह उपेक्षणीय या नगण्य दीख सकती है पर वह है ही नहीं, नहीं कह सकते। धरातल की भी यही बात है। भले ही हमारा दिमाग सिर्फ लम्बाई चौड़ाई को ही ध्यान में लाये किन्तु सिर्फ उन्हीं दो परिमाणों वाली किसी चीज को तो प्रकृति ने नहीं बनाया है। सरल रेखा कागज पर खींची देखकर हम समझ लेते हैं कि इसकी सरलता विल्कुल स्वाभाविक बात है। सरल से सरल रेखा को भी यदि अधिक वारीक पैमाने से जाँचा जाये तो वह पूरी सरल नहीं उतर सकती।

नाप का भी यही हाल है। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के द्वारा हम जिस विन्दु, रेखा, धरातल आदि की व्याख्या करते हैं, उन्हें हम उनकी वास्तविक सापेक्ष स्थिति में न लेकर एक आदर्श मान के रूप में लेते हैं। लम्बाई नापने के लिए कोई स्थिर आदर्श मानदण्ड नहीं मिल सकता। ठोस से ठोस धातु का ठीक से नापा हुआ मानदण्ड लोहे या पीतल का तार या छड़ भी एक दिशा से दूसरी दिशा में घूमने मात्र से अपनी लम्बाई का करोड़वाँ हिस्सा घट या वढ़ जाता है। एक ही जमीन की भिन्न भिन्न समय में या भिन्न भिन्न आदमियों द्वारा की गई जितनी नापियाँ होती हैं वे सूक्ष्मता में जाने पर एक सी नहीं उतरतीं। शीशे या प्लाटिनम का खूब सावधानी से निशान लगाया जाए, जरीव से नापा जाए, तो भी नापियों में कुछ न-कुछ अन्तर रह ही जाता

---

१. जेण विणावि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुं णमो अणेगन्तवायस्स।

है। फिर दिशा बदलने से लम्बाई का फर्क होता है, यह अभी कह चुके हैं। साथ ही तापमान के परिवर्तन से धातुओं का फैलना सिकुड़ना लाजमी है और समयान्तर में भीतरी परमाणुओं की स्थिति में जो लगातार अन्तर पड़ रहा है, वह भी मान में अन्तर डालता है। खुद नापी जाने वाली जमीन के बारे में तो यह बात और भी सच है क्योंकि वह प्लाटिनम जैसी दृढ़ता नहीं रखती और नापने वाला तो यदि अपने औजारों की बात को न माने तो "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" कहावत के अनुसार हर एक नापने वाला अपना अपना अलग ही परिणाम बतलायेगा। किसी नापी (मापदण्ड) को सच्चा मानने के वक्त हम उसे परमार्थ की कसौटी पर नहीं कसने लगते, क्योंकि यह कसौटी मनुष्य की कल्पना के सिवाय और कहीं है ही नहीं। हम नापी के परिणाम को बिलकुल झूठ कहकर उसे व्यवहार से बहिष्कृत नहीं कर सकते हैं। हमारा सच्चा मान वह है जो कि भिन्न भिन्न नापियों का माध्यम (औसत) है। सावधानी के साथ जितनी अधिक नापियाँ की जायेंगी, माध्यम उतना ही ठीक होगा; और जो नापी इस माध्यम के समीप होगी वही सत्य होगी। इन बातों से यह तो पता लग गया कि तार्किकों ने वास्तविकता की अच्छी तरह छानबीन किए बिना जो सिर्फ तर्क से किसी बात को स्वयं सिद्ध कर डाला है, वह उन्हीं के शब्दों में मान लेने लायक नहीं है। हमारी उक्त परिभाषाएँ ठीक हो सकती हैं यदि उन्हें परमार्थ-सत्य मानने की जगह हम सापेक्ष-सत्य कहें। अधिक वक्र की अपेक्षा कोई रेखा सरल हो सकती है। अधिक मोटे बिन्दुओं या अत्यन्त क्षुद्र रेखाओं की अपेक्षा किसी बिन्दु की लम्बाई, चौड़ाई को हम नगण्य समझ सकते हैं। हमारे सभी माप तोल सापेक्ष हैं[1]।" स्याद्वाद भी उक्त प्रकार की अपेक्षात्मक समीक्षाओं से भरा पड़ा है। जैन आगम श्रीपन्नवणा सूत्र में सत्य के भी दस भेद कर दिये गये हैं। जहाँ सापेक्षवादी व्यावहारिक माप तोल आदि को कुछ डरते हुए से सत्य में समाविष्ट करने लगते हैं वहाँ लगभग सभी प्रकार का आपेक्षिक सत्य दस भागों में विभक्त कर दिया गया है। दस भाग इस प्रकार हैं—

१. जनपद-सत्य (देश सापेक्ष सत्य)—भिन्न भिन्न देशों की भिन्न भिन्न भाषाएँ होती हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ के भिन्न भिन्न नाम हो जाते हैं पर वे सब अपने अपने देश की अपेक्षा से सत्य हैं। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो क्षेत्र भेद से एक दूसरे के विपरीत अर्थवाची हो जाते हैं—जैसे साधारणतया पिता को 'बापू' कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में छोटे बच्चे को उसका पिता व अन्य 'बापू' कहते हैं पर वे जनपद सत्य के अन्तर्गत आ जाने से असत्य नहीं कहे जाते।

---

१. विश्व की रूपरेखा अध्याय १ सापेक्षवाद।

२. **सम्मत-सत्य**—जन व्यवहार से जो शब्द प्रयोग मान्य हो गया है। जैसे—पंक से पैदा होने के कारण कमल को पंकज कहा जाता है पर मेढक को नहीं; हालांकि वह भी पंक से पैदा होने वाला है। अतः इस विषय में कोई तर्क नहीं चल सकता कि उसे भी पंकज क्यों नहीं कहा जाए?

३. **नाम-सत्य**—किसी का नाम विद्यासागर है और वह जानता क, ख, ग भी नहीं। लोग उसे विद्यासागर कहते हैं तो भी असत्यवादी नहीं कहे जाते, क्योंकि उनका कहना नामसापेक्ष सत्य है। नाम केवल व्यक्ति के पहचान की कल्पना है। अतः यह नहीं देखा जाता कि उसके जीवन के साथ वह कितना यथार्थ है।

४. **स्थपाना-सत्य**—किसी वस्तु के विषय में कल्पना कर लेना। जैसे १२ इंच का एक फीट, ३ फीट का १ गज। इतने तोलों का सेर है या इतने सेरों का मन है। यह स्थापना देश, काल की दृष्टि से भिन्न भिन्न होती है, पर अपनी अपनी अपेक्षा से जब तक व्यवहार्य है तब तक सब सत्य है। सत्य के इस भेद में अपेक्षावाद के उक्त माप, तोल गणित आदि के सारे विचार समा जाते हैं। वे सब सापेक्ष-सत्य हैं। एक मानदण्ड में सूक्ष्म दृष्टि से चाहे प्रतिक्षण कितना ही अन्तर पड़ता हो; पर जब तक व्यवहार्य है तब तक वह सत्य ही माना जाएगा। वास्तविक दृष्टि में सापेक्षवाद के अनुसार जिस प्रकार मानदण्ड आदि में प्रतिक्षण परिवर्तन माना है; स्याद्वाद शास्त्र में उस परिवर्तन का विवेचन और भी गम्भीर व व्यापक मिलता है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु ही वह है जिसमें प्रतिक्षण नये स्वरूप की उत्पत्ति, प्राचीन स्वरूप का नाश और मौलिक स्वरूप की निश्चलता हो। प्रतिक्षण परिवर्तन के विषय में दोनों वादों का एक-सा सिद्धान्त एक दूसरे की सत्यता का पोषक है।

५. **रूप-सत्य**—केवल रूप सापेक्ष कथन रूप-सत्य है। जैसे-नाट्यशाला में नाट्यकारों के लिए दर्शक कहा करते हैं—यह हरिश्चन्द्र है, यह रोहिताश्व है। रामलीला में कहा जाता है—यह राम है, यह सीता है।

६. **प्रतीति-सत्य**—जैसे प्रतीति हो। दूसरे शब्दों में इसे हम सापेक्ष-सत्य भी कह सकते हैं। आम्र-फल की अपेक्षा आमलक छोटा है ऐसी प्रतीति होती है; और गुंजा की अपेक्षा वह बड़ा है, यह भी प्रतीति होती है। सापेक्षवाद का एक बड़ा विभाग इसी एक भेद में समा जाता है।

७. **व्यवहार-सत्य**—लोक भाषा में सम्मत वाक्य व्यवहार सत्य है। जैसे बहुत बार पूछा जाता है यह सड़क कहाँ जाती है? कोई उत्तर दे सकता है कि महाशय! यह तो कहीं नहीं जाती यहीं पड़ी रहती है। बटोही थका-मांदा गांव के पास पहुँचता है और कहता है, "अब तो गांव आ गया है।" पर कोई यह नहीं पूछता कि "तुम आये

हो या गाँव चलकर आया है।" तात्पर्य यही है कि लोक व्यवहार से यह कहना असिद्ध नहीं है। अतः यह सत्य का ही एक भेद है।

८. **भाव-सत्य**—यथावस्थित इन्द्रिय सापेक्ष कथन। जैसे—हंस धोला है, कज्जल काला है। पर यह यथावस्थित कथन भी स्थूल दृष्टि की अपेक्षा से है। सूक्ष्म दृष्टि वहाँ भी उपेक्षित है। उसके अनुसार तो हंस और कज्जल में भी पाँच वर्ण हैं।

९. **योग-सत्य**—दो या दो से अधिक वस्तुओं के योग से जो संज्ञा बनी हो। तत्पश्चात् उस योग के अभाव में भी उस संज्ञा का प्रयोग योग-सत्य है। जैसे-दण्डी, छत्री, स्वर्णकार, चर्मकार आदि।

१०. **उपमा-सत्य**—उपमा अलंकार आदि सारी साहित्यिक कल्पनायें इस सत्य में अन्तर्निहित हैं। इसके चार विकल्प हैं—उपमा सद् उपमेय असद्, उपमा असद् उपमेय सद्, दोनों सद् और दोनों असद्।

निरपेक्ष व सम्पूर्ण सत्य

भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध विचारक सर राधाकृष्णन् ने स्याद्वाद के विषय में लिखा है: "स्याद्वाद निरपेक्ष या सम्पूर्ण सत्य की कल्पना किये बिना तर्क के धरातल पर नहीं ठहर सकता·· ··। वह आपेक्षिक सत्यों को पूर्ण सत्य मानने की प्रेरणा देता है।"[1] यह एक धारणा जो राधाकृष्णन् जैसे मनीषी की बनी, लगता है सापेक्षवाद उन्हें स्याद्वाद सम्बन्धी उक्त निर्णय पर पुनः सोचने को प्रेरित करेगा।

जहाँ इनकी धारणा है निरपेक्ष सत्य को माने बिना काम नहीं चलता वहाँ सापेक्षवाद बताता है—"परमार्थ मन की कल्पना मात्र है। परमार्थ को प्राकृतिक वस्तुओं और नियमों पर जब हम लादने की कोशिश करते हैं तो यही नहीं कि हम वस्तु सत्य को छोड़ आकाश में उड़ने लगते हैं बल्कि उल्टी धारणाओं के शिकार हो जाते हैं। लेकिन वस्तुओं और उनके गुणों की सापेक्षता का मतलब यह नहीं है कि हम

---

1. The theory of relativity cannot-be logically sustained without the hypothesis of an absolute··········The Jains admit that things are one in their universal aspect (jati or karana) and many in their particular aspect (vyakti or karya). Both these, according to them are partial points of view. A plurality of reals is admittedly a relative truth. We must rise to the complete point of view and look at the hole with all the wealth of its attitudes. If Jainism stope short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of the world, connected with one another vitally essentially and immanently, it throw over board, its own logic and exalts a relative truth into an absolute one.

—*Indian Philosophy Vol. I. p. 305, 306*

उनकी सत्ता से इन्कार कर दें। सापेक्षता परमार्थ नामधारी किसी भी पदार्थ को सिद्ध नहीं होने देती, किन्तु सापेक्षता द्वारा सत्ता से इन्कार करवाना तो उनकी सीमा से बाहर जाना है। सापेक्षता आखिर माननी क्यों पड़ती है ? इसीलिये तो कि वस्तु सत्ता हमें ऐसा मानने के लिए मजबूर करती है[1]।" इस प्रकार सापेक्षवाद स्याद्वाद की अपेक्षावादिता को पूर्णतया पुष्ट करता है।

स्याद्वाद स्वयं भी अपने आप में इतना पुष्ट है कि डॉ० राधाकृष्णन् का तर्क उसे हतप्रभ नहीं कर सकता। स्याद्वाद भी तो यह मानकर चलता है कि निरपेक्ष सत्य विश्व में कुछ है ही नहीं तो हमारे मन में उसका मोह क्यों उठता है ? धर्मकीर्ति ने कहा है, "यदि पदार्थों को स्वयं यह अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष बताने वाले कौन होते हैं[2] ?" सापेक्ष सत्य के विषय में जो सन्देहशीलता विचारों को लगती है उसका एक कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य व वास्तविक सत्य से परे सोच लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः सापेक्ष सत्य उनसे भिन्न नहीं है। हर एक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है कि नारंगी छोटी है या बड़ी। यहाँ वास्तविक और पूर्ण सत्य यही है कि वह छोटी भी है और बड़ी भी, अपने बड़े व छोटे पदार्थों की अपेक्षा से। यहाँ कोई यह कहे कि यह तो आपेक्षिक या अधूरा सत्य है तो वह स्वयं बताये कि यहाँ निरपेक्ष या पूर्ण सत्य क्या है ?

कुछ एक जैन विचारकों ने डॉ० राधाकृष्णन् की समालोचना के साथ संगति बैठाने के लिए स्याद्वाद को केवल लोक व्यवहार तक सीमित माना है और जैन दर्शन में प्रतिपादित निश्चय नय को पूर्ण सत्य (absolute truth) बताने का प्रयत्न किया है[3]। किन्तु यह यथार्थ नहीं कि स्याद्वाद केवल लोक व्यवहार मात्र है, क्योंकि 'स्यादस्त्येव सर्वमिति' और 'स्यान्नास्त्येव सर्वमिति' अर्थात् 'स्वद्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से सब कुछ है ही' और 'परद्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से सब कुछ नहीं ही है' यह जो स्याद्वाद का हृदय सप्त भंगी तत्त्व है उसका विषय लोक व्यवहार ही नहीं अपितु द्रव्य मात्र है। इसीलिए तो आचार्यों ने कहा है, 'दीप से लेकर व्योम तक वस्तु मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है[4]।" केवली (सर्वज्ञ) व निश्चय नय के द्वारा बताया गया तत्त्व भी कहने भर को ही निरपेक्ष है क्योंकि 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति से

---

१. विश्व की रूपरेखा, सापेक्षवाद पृ० ५७-५८।

२. यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ? —प्रमाणवार्तिक २-२०६।

३. स्याद्वादमंजरी —जगदीशचन्द्र एम० ए० द्वारा अनूदित पृ० २५।

४. आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लो० ५।

परे वह भी नहीं है । अतः स्याद्वाद का यह डिंडिमनाद कि सत्य मात्र सापेक्ष है व पूर्ण सत्य या वास्तविक सत्य उससे परे कुछ नहीं, वह स्वयं सिद्ध है और तर्क की कसौटी पर आधुनिक सापेक्षवाद द्वारा समर्थित है ।

समालोचना के क्षेत्र में

स्याद्वाद व सापेक्षवाद दोनों ही सिद्धान्तों को अपने अपने क्षेत्र में विरोधी समालोचकों के भरपूर आक्षेप सहन करने पड़े हैं । आक्षेपों के कारण भी दोनों के लगभग समान हैं । दोनों की ही विचारों की जटिलता को न पकड़ सकने के कारण धुरंधर विद्वानों द्वारा समालोचना हुई है, किन्तु दोनों ही वादों में तथा प्रकार की आलोचनाएँ तत्त्व-वेत्ताओं के सामने उपहासास्पद व अज्ञतामूलक सिद्ध हुई हैं । उदाहरणार्थ शकराचार्य जैसे विद्वानों ने स्याद्वाद के हार्द को न पकड़ते हुए लिख मारा—"जब ज्ञान के साधन, ज्ञान का विषय, ज्ञान की क्रिया सब अनिश्चित है तो किस प्रकार तीर्थंकर अधिकृत रूप से किसी को उपदेश दे सकते हैं और स्वयं आचरण कर सकते हैं, क्योंकि स्याद्वाद के अनुसार ज्ञान मात्र ही अनिश्चित है ।" इसी प्रकार प्रो० एस० के० वेलवालकर एक प्रसंग में लिखते हैं—"जैन-दर्शन का प्रमाण सम्बन्धी भाग अनमेल व असंगत है अगर वह स्याद्वाद के आधार पर लिया जाए । S (एस) हो सकता है, S (एस) नहीं हो सकता, दोनों हो सकते हैं; P (पी) नहीं हो सकता, इस प्रकार का निषेधात्मक और अज्ञेयवादी (एग्नोष्टिक) वक्तव्य कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता ।" इसी प्रकार कुछ लोगों ने कहा—'यह अजीब बात है कि स्याद्वाद दही और भेंस को भी परस्पर एक मानता है । पर वे दही तो खाते हैं भेंस नहीं खाते, इसीलिये स्याद्वाद गलत है ।' स्याद्वाद वेत्ताओं के सामने ये सारी आलोचनायें बचपन की सूचक थीं ।

शंकराचार्य ने स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चितवाद कहा । सम्भवतः उन्होंने 'स्यादस्ति' का अर्थ 'शायद है' ऐसा समझ लिया हो पर स्याद्वाद संशयवाद नहीं है । इसके अनुसार वस्तु अनन्त धर्मवाली है । हम वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए किसी एक ही धर्म (गुण) की अपेक्षा करते हैं किन्तु उस समय वस्तु के अन्य गुण भी उसी वस्तु में ठहरते हैं इसलिये 'स्यादस्ति' अर्थात् 'अपेक्षा विशेष से है' का विकल्प यथार्थ ठहरता है । वहाँ अनिश्चतता और सन्देहशीलता इसलिये नहीं है कि स्यादस्ति के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग और होता है । इसका तात्पर्य स्याद्वादी किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए कहेगा अमुक अपेक्षा से ही ऐसा है । प्रश्न उठता है कि 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा क्यों कहा जाये ? इसका उत्तर होगा इसके बिना व्यवहार ही नहीं चलेगा । अमुक रेखा छोटी है या बड़ी यह प्रश्न ही नहीं पैदा होगा जब तक कि

हमारे मस्तिष्क में दूसरी रेखा की कोई कल्पना न होगी। इस स्थिति में अनिश्चितता नहीं किन्तु यथार्थता यह होगी कि रेखा बड़ी या छोटी है भी, नहीं भी। यह तर्क एस० के० वेलबालकर के तर्क पर लागू होता है। S (एस) हो सकता है, S (एस) नहीं हो सकता है आदि विकल्पों को समझने के लिए क्या यह सर्वमान्य तथ्य नहीं होगा कि रेखा बड़ी भी है छोटी की अपेक्षा से, छोटी भी है बड़ी की अपेक्षा से। छोटी बड़ी दोनों ही नहीं है सम रेखा की अपेक्षा से। तथा प्रकार से S है अंग्रेजी भाषा की अपेक्षा से; एस लुप्त अकार का चिन्ह है संस्कृत भाषा की दृष्टि से। दोनों हैं दोनों भाषाओं की अपेक्षा से, दोनों नहीं है अन्य भाषाओं की अपेक्षा से।

स्याद्वाद कोई कल्पना की आकाशी उड़ान नहीं बलिक जीवन व्यवहार का एक बुद्धिगम्य सिद्धान्त है। लोगों ने 'है और नहीं भी' के रहस्य को न पकड़कर उसे सन्देहवाद या संशयवाद कह डाला, किन्तु चिन्तन की यथार्थ दिशा में आने के पश्चात् वह इतना सत्य लगता है जैसे दो और दो चार। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल व गुण (मान) की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ है और परद्रव्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ नहीं है, यही 'स्यादस्ति' और 'स्यान्नास्ति' का हार्द है। दही व भैंस एक हैं द्रव्यत्व की अपेक्षा से, एक नहीं हैं दधित्व व महिषत्व की अपेक्षा से। दही खाने का पदार्थ है दधित्व की अपेक्षा से, न कि द्रव्य होने मात्र से। इसलिए दही के साथ भैंस की बात जोड़ना मूर्खता है।

सापेक्षवाद की आलोचना का भी लम्बा इतिहास बन चुका है। यह सत्य है कि सापेक्षवाद आज वैज्ञानिक जगत् में गणितसिद्ध सर्वसम्मत सिद्धान्त बन गया है और यह माना जाने लगा है कि इस सदी का वह एक महान् आविष्कार और मानव मस्तिष्क की सबसे ऊँची पहुँच है[1], पर इसकी जटिलता को हृदयङ्गम न कर सकने के कारण आरम्भ में आलोचकों का क्या रुख रहा यह एक दिलचस्प विषय है। एक सुप्रसिद्ध व अनुभवी इंजीनियर सिडने ए० रीव ने कहा है—"आईस्टीन का सिद्धान्त निरी ऊटपटांग बकवास है[2]।" दार्शनिक गगन हेमर ने लिखा—"आईस्टीन ने तर्क शास्त्र में एक मूर्खतापूर्ण मौलिक भूल की है[3]।" इस प्रकार स्याद्वाद की तरह

---

1. Relativity is probably the farthest reach that the human mind has made into the "Unknown".

—*Exploring the Universe p. 257*

2. 'Einstein theory is arrant non-sense'.

—*Cosmology Old and New p. 197*

3. Einstein has made a very silly basic error in logic.

—*Cosmology Old and New p. 197*

सापेक्षवाद की भी विचित्र समालोचनाएँ हुईं, पर आज वह वैज्ञानिक जगत् में बीसवीं सदी का एक महान् आविष्कार सर्वसम्मततया मान लिया गया है ।

उपसंहार

कुछ एक विचारकों का मत है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद में कोई तुलना नहीं बैठ सकती; क्योंकि स्याद्वाद एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है और सापेक्षवाद भौतिक । वस्तुस्थिति यह है कि दोनों ही वाद निर्णय की पद्धतियाँ हैं अतः कोई भी आध्यात्मिकता या भौतिकता तक सीमित नहीं है । यह एक गलत दृष्टिकोण है कि स्याद्वाद आध्यात्मिकता तक सीमित है । वह तो अपने स्वभाव से जितना आत्मा से सम्बन्धित है उतना पुद्गल (भूत) से भी । जब वह समानतया दोनों के ही विषय में यथार्थ निर्णय देता है तो इस अर्थ में अपने आप सिद्ध हो जाता है कि जितना वह आध्यात्मिक है उतना ही वह भौतिक भी । यद्यपि वैज्ञानिकों का विषय भौतिक विज्ञान ही है, अतः सापेक्षवाद का लक्ष्य उससे आगे नहीं बढ़ पाया इसलिये यह भौतिक पद्धति ही माना जाता है । पर वास्तव में यह भी स्याद्वाद की तरह वस्तु को परखने की एक प्रणाली है । इसे आध्यात्मिक या भौतिक कुछ भी कहें यह अधिक यथार्थ नहीं है । फिर भी इसे यदि भौतिक पद्धति भी मानें तो भी परमाणु से ब्रह्माण्ड तक के भौतिक (पौद्गलिक) पदार्थ तो स्याद्वाद व सापेक्षवाद दोनों के विषय होते हैं । इसलिए स्याद्वाद और सापेक्षवाद के सम अंशों की तुलना अपना एक महत्त्व रखती है ।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद की आश्चर्योत्पादक समता से हमारे चिंतन के बहुत सारे पहलू उभर आते हैं । आज तक जो दर्शन और विज्ञान के बीच की खाई अधिक से अधिक चौड़ी होती जा रही थी इस प्रकार से यदि चिंतन समान धारा से बहने लगेगा तो सम्भव है कि भविष्य के किन्हीं क्षणों में वह खाई पट सकेगी ।

स्याद्वाद को संशयवाद के रूप में समझने की जो एक भूल चली आ रही थी, लगता है सापेक्षवाद के द्वारा समर्थित उसकी वैज्ञानिकता उसको नामशेष ही कर देगी ।

दर्शन से पराङ्मुख व विज्ञान के प्रति श्रद्धालु व्यक्तियों को स्याद्वाद व सापेक्षवाद की पूर्वोक्त समानता यह सोचने का अवसर देगी कि दर्शन जैसा कि वे समझते हैं एक बूझबूझागरी कल्पना नहीं बल्कि वह चिन्तन की एक प्रगतिशील धारा है जिसकी दिशा में विज्ञान आज आगे बढ़ने को प्रयत्नशील है । दोनों वादों की समानता से हर एक तटस्थ विचारक को यह तो लगेगा ही कि स्याद्वाद ने दर्शन के क्षेत्र में विजय पाकर अब वैज्ञानिक जगत् में विजय पाने के लिये सापेक्षवाद के रूप में जन्म लिया है ।

३

परमाणुवाद

अणु और परमाणु की चर्चाएँ विश्व-विख्यात प्रयोगशालाओं से लेकर मजदूर और किसान की झोंपड़ी तक पहुँच चुकी हैं। आए दिन होने वाले अणु बम और उद्जन बमों के परीक्षण अणु सामर्थ्य को प्रलयंकारी महेश के रूप में उपस्थित कर रहे हैं। परमाणुवाद की प्रगति ने आज समस्त विश्व को उसकी विभिन्न शक्ति, स्वभाव, सामर्थ्य और उसके आदि इतिहास से अभिज्ञ होने के लिए अत्यन्त जिज्ञासाशील बना दिया है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु कब आया? कौन उसका आविष्कर्ता था? और अब तक विकास की किस मंजिल पर पहुँचा तथा दर्शन के क्षेत्र में सहस्रों वर्ष पूर्व से लेकर अब तक अणु, परमाणु और पुद्गल (Matter) के विषय में कैसा चिन्तन व निदिध्यासन चला; इन दोनों पक्षों का युगपत् प्रस्तुतीकरण अपना एक विशेष महत्त्व रखेगा।

दर्शन पक्ष

हालांकि पाश्चात्य देशों में यह एक निश्चित धारणा है कि परमाणु सम्बन्धी पहली बात डेमोक्रेट्स (ईस्वी पूर्व ४६०-३७०) ने कही। पर भारतवर्ष में परमाणु का इतिहास इससे भी सैंकड़ों वर्ष पूर्व का मिलता है। वैसे वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनों में परमाणु सम्बन्धी कोई विशेष समुल्लेख नहीं मिलता। जैन दर्शन में परमाणु तथा पुद्गल के विषय में सुव्यवस्थित विवेचन मिलता है।

अपने शास्त्रीय आधार से जैन धर्म शाश्वत है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में चौवीस तीर्थंकर होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि भी अब जैन धर्म के बारे में आगे बढ़ी है—"जैन धर्म, वैदिक और बौद्ध धर्म से प्राचीन है[1]।" इतिहास के क्षेत्र में यह तो एक सर्वसम्मत तथ्य हो ही चुका है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। भारतवर्ष का जितना प्राचीन इतिहास जो कि अधिक से अधिक पाँच हजार वर्षों तक का मिला है;

---

1. It is older than Hinduism or Budhism.

—*A History of philosophical system p. 6*

जैन धर्म सदैव मौजूद ठहरता है। इस प्रकार परमाणुवाद का अस्तित्व जैन दर्शन के साथ बहुत प्राचीन हो जाता है। इतने दिन इतिहास के क्षेत्र में २४वें तीर्थंकर भगवान श्री महावीर का ही परिचय था, किन्तु अब तो उनसे पूर्व के तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् श्री पार्श्वनाथ जो कि काशी राजा के एक राजकुमार थे; "पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुषों की कोटि में मान लिए गए हैं[1]।" उनका काल ८४२ ई० पूर्व है जो कि डेमोक्रेट्स से ४२२ वर्ष पूर्वकालीन होते हैं। यह जैन शास्त्रों से भली-भाँति प्रामाणित है कि महावीर और पार्श्वनाथ का समस्त तात्त्विक विवेचन एक था।

वर्तमान जैन दर्शन का सम्बन्ध यदि हम भगवान् महावीर से भी लें तो उनका भी जीवन काल ईस्वी पूर्व ५९८ से प्रारम्भ होकर ५२६ तक चलता है जो कि परमाणुवाद के तथाकथित आविष्कारक डेमोक्रेट्स से कुछ अधिक सौ वर्ष पूर्वकालिक हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाणु का आविष्कर्ता डेमोक्रेट्स ही था, यह मानना केवल ऐतिहासिक अज्ञात दशा का ही परिणाम है।

भगवान महावीर की वाणी में परमाणु और पुद्गल का विषय इस प्रकार प्रस्फुटित हुआ है। इस संसार में छः प्रकार के द्रव्य हैं[2]—

धर्मास्तिकाय—Medium of motion for soul and matter.

अधर्मास्तिकाय—Medium of rest for soul and matter.

आकाशास्तिकाय—Space.

पुद्गलास्तिकाय—Matter and energy.

जीवास्तिकाय—Souls.

काल—Time.

जैन दर्शन में लोक संस्थान के छहों मूलभूत द्रव्यों में पुद्गल को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है। पुद्गल शब्द जैन पारिभाषिक है। अन्य किसी भी दर्शन में इस शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। बौद्ध दर्शन में इसका व्यवहार किया गया है पर नितान्त अन्य ही अर्थ में। जैन दर्शन का पुद्गल शब्द आधुनिक विज्ञान के Matter (पदार्थ) का पर्यायवाची है। पारिभाषिक होते हुए भी यह शब्द रूढ़ न होकर व्यौत्पत्तिक है।

---

1. *History of the world by Harms worth Vol. II 1198*

२. (क)—गोयमा ! पड् दव्वा पण्णत्ता, तंजहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्ध समयेय।

(ख)—धम्मो, अधम्मो, आगासो, कालो, पुग्गल, जन्तओ।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वर दंसिहिं।
—उत्तराध्ययन अ० २८।

"पूरणात् पुत् गलयतीति गलः"[1] अर्थात् पूर्ण स्वभाव स पुत् और गलन स्वभाव से गल इन दो अवयवों के मेल से पुद्गल शब्द बना है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक[2], धवला ग्रन्थ[3], हरिवंश पुराण[4] तथा सिद्धसेनीय तत्त्वार्थ टीका[5] आदि ग्रन्थों में गलन मिलन स्वभाव के कारण पदार्थ को पुद्गल बताया गया है। मूल जैन आगमों में पुद्गल के विषय में बताया गया है—उसमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध आठ स्पर्श हैं : वह रूपी है, अजीव है, नित्य है, अवस्थित है और लोकद्रव्य है। वह समास में पाँच प्रकार का कहा गया है—

(१) द्रव्य अपेक्षा से अनन्त द्रव्य है।

(२) क्षेत्र अपेक्षा से लोक प्रमाण है।

(३) काल की अपेक्षा से कभी नास्ति नहीं होता तथा सदा नित्य है।

(४) भाव अपेक्षा से वर्ण, रस, गंध, स्पर्श वाला है; तथा

(५) गुण की अपेक्षा से ग्रहण गुणवाला है[6]।

थोड़े से शब्दों में पुद्गल की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, स्वभाव वाला द्रव्य पुद्गल[7] है। जैन दृष्टि से षड्द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही रूपी द्रव्य[8] है। ऐसे भी कहा जा सकता है कि पुद्गल द्रव्य जो आँख से

---

१. शब्द कल्पद्रुम कोष।

२. पूरण गलनान्वर्थ संज्ञत्वात् पुद्गलाः—अ० ५ सूत्र १—२४।

३. छव्विह संठाणं बहु विहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गलो।

४. वर्ण, गन्ध, रस स्पर्शः पूरण गलनं च यत्। कुर्वन्ति स्कन्धवत्तस्माद् पुद्गलाः परमाणवः।—सर्ग ७

५. पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः—अ० ५ सूत्र १।

६. पंच, वण्णे, पंच रसे, दुगंधे, अठ फासे, रूवी, अजीवे, सासए, अवठिए, लोक दव्वे। से समासओ पंच विहे पण्णत्ते—दव्वओणं पोग्गलत्थिकाए अणंताहिं दव्वाइं, खेतओ लोयप्पमाणमेत्ते, कालओ न कायइ न आसी जाव-णिच्चे, भावओ वण्णमंत्ते, गंध-रस-फास-मंत्ते, गुणओ गहण गुणे। —भगवती शतक २, उद्देशक १०।

७. स्पर्श, रस, गंध, वर्णवान् पुद्गलः —श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्रकाश १ सूत्र ११।

८. (क) अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्मः आकाशम्। कालः पुद्गलः मूर्तः रूपादिगुणः अमूर्तयः शेषास्तु। —१५ संस्कृत छाया प्राकृत गाथा।

(ख) पुद्गल मुत्तो रूपादि गुणो।—वृहद् द्रव्य संग्रह गाथा १५।

(ग) रूपिणः पुद्गलाः—तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र ४।

देखा जा सकता है, कर्ण से श्रव्य है, जिह्वा से आस्वाद्य है, घ्राण से सूंघा जाने वाला है और स्पर्शनेन्द्रिय से स्निग्ध, रूक्ष आदि स्पर्श गुणों से ज्ञेय है। आज के भौतिक विज्ञान का विषय भूत (पदार्थ) जैन दर्शन में पुद्‌गल शब्द से अभिहित है।

पुद्‌गल के चार भेद

समस्त लोकवर्ती पुद्‌गल द्रव्य पुद्‌गलास्तिकाय कहा जाता है। परमाणु से लेकर एक अखंड द्रव्य तक उसके चार[1] भेद हैं।

(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध देश (३) स्कन्ध प्रदेश (४) परमाणु।

स्कन्ध (Molecule)—मूर्त द्रव्यों की एक इकाई स्कन्ध[2] है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है दो[3] से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओं का एकीभाव स्कन्ध है। किन्तु इसके साथ इतना और जोड़ना होगा कि विभिन्न परमाणुओं का एक होना जैसे स्कन्ध है, वैसे विभिन्न स्कन्धों का एक होना व एक स्कन्ध का एक से अधिक परमाणुओं की इकाई में टूटने का परिणाम भी एक स्वतन्त्र स्कन्ध[4] है। कम से कम दो परमाणुओं का एक स्कन्ध होता है जो द्विप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है और कभी कभी अनन्त परमाणुओं के स्वाभाविक मिलन से एक लोक व्यापी महा स्कन्ध भी बन जाता है[5]।

स्कन्ध देश—स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई से बुद्धि कल्पित एक भाग को स्कन्ध-देश कहा जाता[6] है। जब हम कल्पना करते हैं कि वह इस दण्ड का

---

१. जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता। खंध, खंधदेसा, खंधपयेसा, परमाणुपोग्गला।
—भगवती शतक २।१०।६६।

२. (क) स्कन्धः सकलः समस्तः—प्राकृत गाया ८१।
(ख) तदेकी भावः स्कन्धः—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्रकाश १ सूत्र १५।

३. तेषां द्वाद्यनन्त परमाणूनामेकत्वेनावस्थानं स्कन्धः।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्र० १ सूत्र १५।

४. तद् भेद् संघाताभ्यामपि। स्कन्धस्य भेदतः संघाततो पि स्कन्धो भवति।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्रकाश १ सूत्र १६।

५. तत्र अन्त्यम् अशेष लोकव्यापिमहास्कन्धस्य।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्र० १ सूत्र १२।

६. बुद्धि कल्पितो वस्त्वंशो देशः वस्तुनोऽपृथग भूतो बुद्धिकल्पितोंऽशो देश उच्यते।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्र० १ सूत्र २२।

आधा भाग है या वह इस पुस्तक का एक पृष्ठ है तो वह उस स्कन्ध रूप दण्ड या पुस्तक का एक देश कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि जिसे हम देश कहेंगे वह स्कन्ध से पृथग्भूत नहीं होगा। पृथग्भूत होने से तो वह स्वयं एक स्कन्ध की संज्ञा ले लेगा।

स्कन्ध-प्रदेश—जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु (स्कन्ध) की मूल ईंट परमाणु है। यह परमाणु जब तक स्कन्धगत है तब तक वह स्कन्ध-प्रदेश कहलाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं वस्तु का वह अविभागी अंश जो सूक्ष्मतम है और जिसका फिर अंश नहीं बन पाता वह स्कन्ध-प्रदेश[1] है।

परमाणु—स्कन्ध का वह अन्तिम भाग जो विभाजित हो ही नहीं सकता वह परमाणु[2] है। जब तक वह स्कन्धगत है प्रदेश कहलाता है और अपनी पृथग् अवस्था में परमाणु कहलाता है। परमाणु के स्वरूप को शास्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। "परमाणु पुद्गल[3] अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, व अग्राह्य है किसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका भाग नहीं हो सकता। वज्रपटल से भी उसका भाग या विभाग नहीं हो सकता। किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से उसका क्रमण या भाग नहीं हो सकता। वह तलवार की या इससे भी तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र की धार पर रह सकता है। तलवार या क्षुर की तीक्ष्ण धार पर रहे हुए परमाणु-पुद्गल का छेदन भेदन नहीं हो सकता। वह अग्नि प्रवेश कर जलता नहीं, पुष्कर संवर्त महामेघ में प्रवेश कर आर्द्र नहीं होता, गंगा महानदी के प्रति श्रोत में शीघ्रता से प्रवेश कर नष्ट नहीं होता। "उदकावर्त या उदक बिन्दु में आश्रय लेकर विलुप्त नहीं होता।" "परमाणु पुद्गल[4] अनर्घ है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्ध नहीं है, समध्य नहीं है, सप्रदेशी नहीं है।" परमाणु के न लम्बाई है, न चौड़ाई है, न गहराई है। यदि वह है तो इकाई रूप है। "वह सूक्ष्मता के कारण स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त[5] है।" इसीलिए आचार्यों ने कहा है—जिसका आदि, अन्त, मध्य, एक ही है अर्थात् वह स्वयं ही आदि है, स्वयं ही मध्य है, और स्वयं

---

१. निरंशो देशः प्रदेशः कथ्यते—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्रकाश १ सूत्र २३।

२. अविभाज्यः परमाणुः—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका—प्रकाश १ सूत्र १४।

३. भगवती शतक ५ उद्देश ७।

४. परमाणु पोग्गलेणं भन्ते किं सअड्ढे, समज्झे, सपएसे उदाहु—अणड्ढे, अमज्झे अपएसे ? गोयमा ! अणड्ढे, अमज्झे, अपएसे, नोसअड्ढे, नो समज्झे नो सपएसे भगवती शतक ५ उद्देश ७।

५. सौक्ष्म्यादयः आत्ममध्याः आत्मांताश्च—राज वार्तिक ५।२५।१।

ही अन्त है, जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, जो अविभागी है ऐसे द्रव्य को परमाणु[1] जानना चाहिए। पञ्चास्तिकायसार में कुछ अन्य विशेषताओं से भी परमाणु को वताया है "परमाणु वह है—जिसमें एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, दो स्पर्श हों। जो शब्द का कारण हो पर स्वयं शब्द न हो और स्कन्ध से अतिरिक्त[2] हो।" परमाणु में चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के विषय, वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श अंश रूप से मिलते हैं। केवल श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द गुण ही उसमें नहीं मिलता। क्योंकि शब्द स्कन्धों का ही ध्वनि रूप परिणाम है। परमाणु तो शब्द के केवल कारण भूत ही कहे जा सकते हैं। हालांकि किसी एक परमाणु के वर्ण गन्ध आदि इन्द्रिय के विषय नहीं वन सकते तो भी ये परमाणु के मूल गुण हैं।

परमाणु में वर्ण, गन्ध आदि

परमाणु[3] चार प्रकार का कहा गया है—

(१) द्रव्य परमाणु—पुद्गल परमाणु Primary unit of mass of matter.

(२) क्षेत्र परमाणु—आकाश परमाणु Primary unit of space.

(३) काल परमाणु—समय Primary unit of time.

(४) भाव परमाणु—गुण Primary unit of strength or degree.

भाव परमाणु चार प्रकार का कहा गया है—"(१) वर्ण-गुण (२) गन्ध-गुण (३) रस-गुण (४) स्पर्श-गुण। इनके उपभेद १६ हैं—(१) एक गुण कृष्ण (२) एक गुण नील (३) एक गुण रक्त (४) एक गुण पीत (५) एक गुण श्वेत (६) एक गुण सुगन्ध (७) एक गुण दुर्गन्ध (८) एक गुण तिक्त (९) एक गुण मधुर (१०) एक गुण कटुक (११) एक गुण कषाय (१२) एक गुण तीक्ष्ण (१३) एक गुण उष्ण (१४) एक गुण शीत (१५) एक गुण रूक्ष और (१६) एक गुण स्निग्ध।" तात्पर्य यह हुआ कि जैन दर्शन में प्रतिपादित परमाणु वर्ण गन्ध, रस, स्पर्शवान् है—जैसा होना पुद्गल का स्वभाव ही है।

---

१. अन्तादि अन्तमज्झं अन्ततेणैव इन्द्रियगेज्झं।
जं दव्य अविभागी तं परमाणु विजानीहि—सर्वार्थ सिद्धि टीका—सूत्र २५।

२—एक रस, वर्ण, गन्ध, द्विस्पर्श शब्दकारणमशब्दम्।
स्कंधान्तरितं, द्रव्यं परमाणु तं विजानीहि ॥८८॥

३. चउव्विहे परमाणु पण्णते, तजंहा—द्रव्य परमाणु, खेत्त परमाणु, काल परमाणु, भाव परमाणु।—भगवती शतक सूत्र २०।५।१२।

एक परमाणु में वर्ण, गन्ध, आदि की व्यवस्था इस प्रकार है—पूर्वोक्त पांच प्रकार के वर्णों में से उसमें एक वर्ण, दो गन्धों में से एक गन्ध, पाँच रसों में से एक रस और चार स्पर्शों में से दो स्पर्श होते हैं। रूक्ष या स्निग्ध से एक और शीत या उष्ण से एक[1]।

परमाणु की परिभाषा करते हुए टीकाकारों ने कहा है—

कारण मेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एक रस गन्ध वर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च॥

परमाणु स्कन्ध-पुद्गलों के निर्माण का अन्त्य कारण है अर्थात् वह वस्तु मात्र में उपादान है। वह सूक्ष्मतम है, भूत में था, वर्त्तमान में है और भविष्य में रहेगा। वह एक रसयुक्त, एक गन्धयुक्त, एक वर्णयुक्त, दो स्पर्श युक्त है और कार्य-लिंग है। कार्य-लिंग का तात्पर्य है; वह परमाणु रूप में आँखों व किसी पार्थिव साधन प्रसाधन से नहीं देखा जाता। परमाणुओं के सामूहिक क्रिया-कलाप से उसका अस्तित्व माना जाता है। उसके स्वरूप को तो केवल ज्ञानी तथा परम अवधिज्ञानी ही जानते हैं व देखते[2] हैं।

परमाणुओं में तारतम्य

आधुनिक भौतिक विज्ञान ने ९२ प्रकार के मौलिक परमाणु (Primary elements) माने हैं। जैन-दर्शन ने परमाणु-परमाणु के बीच ऐसी कोई भेद-रेखा नहीं दी है। कोई भी परमाणु कालान्तर से किसी भी परमाणु के सदृश विसदृश हो सकता है, जैसा कि नवीनतम विज्ञान भी अब मानने लग गया है। वर्ण गंध आदि गुणो से सर्वदा सब परमाणु सदृश नहीं रहते। आज एक परमाणु काला है, पीला है, नीला है; एक सुगन्ध स्वभाव का, एक दुर्गन्ध स्वभाव का, एक स्निग्ध स्वभाव का तो एक रूक्ष स्वभाव का, एक तिक्त रस का तो एक कटु रस का; इसलिए परमाणुओं के नाना

---

१. परमाणु पोग्गलेणं भन्ते! कई वण्णे, कई गन्धे, कई रसे, कई फासे? गोयमा! एक वण्णे, एक गन्धे, एक रसे, दुफासे। जइ एग वण्णे सिय कालए, सिय णीलये, सिय लोहिये, सिय हालिद्दये, सिय सुक्किल्लये। जइ एक गन्धे-सिय सुब्भिगन्धे, सिय दुब्भिगन्धे। जइएगं रसे-सिय तित्ते, सिय कड़वे, सियकषाये सिय अंबिले, सिय महुरे। जई दुफासे—सिय सीयेयणिद्धेय, सिय सीयेयलुक्खेय, सिय उसिणेयणिद्धेय, सिय उसिणेयलुक्खेअ—भग० श० २० उ० ५।

२. भगवती शतक १८ उ० ८।

भेद हो जाते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि जैन दर्शन के अनुसार समान वर्ण, गंध वाले परमाणु में भी गुण तरतमता के कारण अनन्त भेद होते हैं। उदाहरणार्थ— विश्व में जितने श्याम परमाणु हैं वे सब समान अंशों से काले नहीं हैं। एक परमाणु एक गुण (Degree) काला है तो दूसरा दो गुण। इस प्रकार कोई सौगुण काला है तो कोई सहस्र गुण, कोई असंख्यात् गुण काला है तो कोई अनन्त गुण। यह वर्ण का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श आदि को लेकर एक से लेकर अनन्त गुणांशों का परमाणु-परमाणु में अन्तर रहता है और वह गुणांशता विभिन्न परमाणुओं की अपनी अपनी शाश्वत् नहीं है। परमाणुओं में गुणांश बदलते रहते हैं। यहाँ तक कि एक गुण रूक्ष परमाणु कालान्तर से अनन्त गुण रूक्ष हो सकता है और अनन्त गुण रूक्ष परमाणु एक गुण। परमाणु की इसी परिणमनशीलता को शास्त्रकारों ने षड् गुण हानि-वृद्धि शब्द से कहा है। यह हानि-वृद्धि विस्रसा (स्वाभाविक) होती है।

परमाणुओं से स्कन्ध (Molecule) क्यों व कैसे ?

यह अत्यन्त महत्त्व का विषय है कि प्रत्येक परमाणु ईंट की तरह जब एक स्वतन्त्र इकाई हैं तो वे परस्पर मिल कर महाकाय स्कन्धों के रूप में कैसे परिणत हो जाते हैं? मकान बनाते समय ईंटों की परस्पर जोड़ के लिए चूना, सीमेन्ट आदि संयोजक द्रव्य की व किसी संयोजक व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। किन्तु अनन्त ब्रह्माण्ड में तो स्कन्धों का संघटन विघटन प्रतिक्षण स्वतः भी होता रहता है। निरभ्र आकाश थोड़े से समय में बादलों से भर जाता है। वहाँ बादल रूप स्कन्धों का जमघट लग जाता है और कुछ ही क्षणों में बिखरता भी देखा जाता है। इस प्रकार से स्वाभाविक स्कन्धों के निर्माण में हेतु क्या है? मनुष्य के हाथ में जो भी स्थूल पदार्थ आता है जिसे मनुष्य मूल या प्राकृतिक संस्थान समझता है, वह सब परमाणुओं का समवायी परिणाम है। जैन दर्शनकारों ने स्कन्ध-निर्माण की एक समुचित रासायनिक व्यवस्था दी है। वह गुर[1] यह है—

(१) परमाणु की स्कन्ध रूप परिणति में परमाणुओं की स्निग्धता और रूक्षता ही एक मात्र हेतु है।

---

१. द्वयधिकादि गुणत्वे सदृशानाम्। सदृशानानां स्निग्धैः सह स्निग्धानां रूक्षैः सह रूक्षाणां च परमाणूनामेकत्र द्विगुणस्निग्धत्वमन्यत्र चतुर्गुण स्निग्धत्व मिति रूपे द्वयधिकादि गुणत्वे सति ऐकीभावो भवति न तु समानगुणानामेकाधिकगुणानाञ्च।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० १।

(२) स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने से स्कन्ध-निर्माण होता है, बशर्ते कि उन दोनों परमाणुओं की स्निग्धता में कम से कम दो अंशों से अधिक अन्तर हो।

(३) रूक्ष परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने से स्कन्ध-निर्माण होता है, बशर्ते कि उन दोनों परमाणुओं की रूक्षता में कम से कम दो अंशों से अधिक अन्तर हो।

(४) स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के मिलन से तो स्कन्ध-निर्माण होता ही है चाहे वे विषम अंशवाले हों चाहे सम अंशवाले।

उक्त चार संविधानों में अपवाद केवल इतना ही है कि कोई परमाणु एक अंश रूक्ष या एक अंश स्निग्ध नहीं होना चाहिए।

यही व्यवस्था गोम्मटसार जीवकाण्ड के ६१५ श्लोक में इस प्रकार की गई है—

निद्धस्स निद्धेण दुआहियेण, लुक्खस्स लक्खेण दुआहियेण।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइबन्धो जहन्नवज्जो विसमो समो वा॥

अर्थात् स्निग्ध का स्निग्ध के साथ द्वयधिक अंशों की तरतमता से बन्ध होता है और इसी प्रकार रूक्ष का रूक्ष के साथ। स्निग्ध और रूक्ष का बन्धन तो विषम और सम की बिना अपेक्षा रक्खे ही होता है। उक्त तीनों बातों के साथ जघन्य वर्जना तो होनी ही चाहिये।

अनन्त ब्रह्माण्ड के ये अनन्तकालीन सदस्य स्वभावतः परिभ्रमण करते ही रहते हैं। यह सारा लोकाकाश परमाणुओं से भरा है। इनके स्वाभाविक मिलन में उक्त विधि के अनुसार नित नये स्कन्धों का निर्माण होता रहता है।

परमाणु में गति व क्रिया

परमाणु जड़ होता हुआ भी गति धर्मा है। उसकी गति प्रेरित भी होती है और अप्रेरित भी। वह सर्वदा ही गति करता हो ऐसी बात नहीं है। कभी करता है कभी नहीं भी। वह क्रियावान् भी है। उसकी क्रियायें आकस्मिक होती हैं और अनेक प्रकार की होती हैं। भगवती सूत्र के अनुसार 'सिय ऐयति. सिय वेयति जाव परिणमइ' अर्थात् परमाण कभी कम्पन करता है, कभी विविध कम्पन करता है, यावत् परिणमन करता है। यावत् शब्द से यहाँ लगता है कम्पन व विविध कम्पन की तरह परमाणु की और भी अनेकों क्रियायें हैं पर वे सब अन्वेषण का विषय हैं। टीकाकार श्री अभयदेव सूरी ने भी अपनी टीका में क्रियाओं के अन्वेषण की बात कही है[१]।

१. भगवती सूत्र शतक ३ उद्देश ३।

प्रश्न उठता है परमाणु में गति स्वंत: होती है या जीव द्वारा प्रेरित ? परमाणु में जीव निमित्त कोई क्रिया और गति नहीं हो सकती क्योंकि परमाणु जीव द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा पुद्‌गल को ग्रहण किये बिना पुद्‌गल में परिणमन कराने की जीव में शक्ति नहीं है।

परमाणु की उत्कृष्ट गति

परमाणु अपनी उत्कृष्ट गति से एक समय में चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त, उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त व अधोचरमान्त से उर्ध्व चरमान्त तक पहुँच सकता है[1]। इस गति को हमें शास्त्रीय शब्दों को खोलकर समझना होगा। समय एक जैन परिभाषिक शब्द है। परमाणु की तरह वह काल का अन्तिम टुकड़ा है। स्थूल रूप से हम उसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि हमारी आँखों के पलक के एक बार उठने या गिरने मात्र में असख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। वैसे एक समय में परमाणु ब्रह्माण्ड के अधोचरमान्त से उर्ध्व चरमान्त तक चला जाता है। ब्रह्मांड शब्द से ही यह जाना जा सकता है कि परमाणु की वह गति कितनी तीव्र हुई।

जैन शास्त्रों के अनुसार यह समग्र विश्व ऊपर से नीचे तक चतुर्दश रज्ज्वात्मक[2] है। एक रज्जु कितना विशाल होता है इसका उल्लेख कुछ उत्तरवर्ती ग्रन्थों में मिलता है। कोई देव हजार मन के लोह गोलक को हाथ में उठाकर अनन्त आकाश में छोड़ दे। वह लोह गोलक छ: महीने तक गिरता जाये इस अवधि में जितने आकाश देश का अवगाहन करता है, वह एक रज्जु है। ऐसे चौदह रज्जुओं का समस्त ब्रह्मांड है। अत: एक समय में इस छोर से उस छोर तक पहुँचने वाला परमाणु कितनी तीव्र गति करता है ?

---

१. परमाणु पोग्गलेणं भन्ते ! लोगस्स पुरच्छि मिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छि मिल्लं चरिमंतं एग समऐणं गच्छइ, पच्चच्छि मिल्लाओ चरिमंताओ पुरच्छि मिल्लं चरिमंतं एग समयेणं गच्छइ, दाहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं जाव गच्छइ, उत्तरिल्लाओ दाहिणिल्लं जावगच्छइ, उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेठिल्लं चरिमंतं एग समएणं जाव गच्छइ, हेठिल्लाओ चरिमंताओ उवरिल्लं चरिमंतं एग समयेणं गच्छइ ? हन्तागोयमा ! परमाणु पोग्गलेणं, लोगस्स पुरच्छि चैव जाव उवरिल्ल चरिमंतं गच्छइ।
—भगवती सूत्र शतक १६ उद्देश ८।

२. चतुर्दश रज्ज्वात्मको लोक: —श्री जैन सिद्धान्त दीपिका।

परमाणु की गति सम्बन्धी अन्य मर्यादायें

परमाणु की गति के विषय में और भी कुछ नियमोपनियम हैं । परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा में होती है । गति में वक्रता तभी आती है जब अन्य पुद्गल का उसमें सहकार होता है। परमाणु की गति में जीव प्रत्यक्ष कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। जीव तो केवल छोटे बड़े स्कन्धों को ही प्रभावित कर सकता है । जिस प्रकार परमाणु की उत्कृष्ट गति (Maximum Speed) बताई गई है उसी प्रकार उसकी अल्पतम गति का निर्देश भी शास्त्रों में मिलता है । कम से कम गति करता हुआ परमाणु एक समय में आकाश के एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश में जा सकता है । आकाश का एक प्रदेश उतना ही छोटा है जितना कि एक परमाणु।

परमाणु की गति स्वतः भी होती है तथा अन्य पुद्गलों की प्रेरणा से भी। निष्क्रिय परमाणु कब गति करेगा यह अनिश्चित है । लेकिन असंख्यात समय के पश्चात् अवश्य वह गति या क्रिया प्रारम्भ करेगा । सक्रिय परमाणु कब गति और क्रिया बन्द करेगा यह अनियत है। एक समय से लेकर आवलिका[1] के असंख्यात भाग समय में किसी समय भी वह गति व क्रिया बन्द कर सकता है । किन्तु आवलिका के असंख्यात भाग उपरान्त वह निश्चित ही गति व क्रिया प्रारम्भ करेगा।

परमाणु-पुद्गल अप्रतिघाती है । वह मोटी से मोटी लोह-दीवार को अपने सहज भाव से पार कर जाता है। पर्वत उसे नहीं रोकते । वह वज्र के भी इस पार से उस पार निकल जाता है । कभी कभी वह प्रतिहत होता है तो इस स्थिति में कि विस्रसा (स्वाभाविक) परिणाम से सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल का यदि किसी दूसरे विस्रसा परिणाम से सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल से आयतन संयोग हो । ऐसी स्थिति में वह स्वयं भी प्रतिहत हो सकता है तथा अपने प्रतिपक्षी परमाणु को भी प्रतिहत कर सकता है।

परमाणुओं का सूक्ष्म परिणामावगाहन

परमाणु की सबसे विलक्षण शक्ति तो यह है जिस आकाश प्रदेश को एक परमाणु ने भर रखा है उसी आकाश प्रदेश में दूसरा परमाणु स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकता है और उसी एक आकाश प्रदेश में अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी ठहर जाता है। यह परमाणुओं की सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति का वैचित्र्य है । सर्वार्थसिद्धि के

---

१. ४८ मिनट परिमाण मुहूर्त के १६७७७२१६वें भाग को आवलिका कहा जाता है।

रचयिता आचार्य पूज्य पाद ने इस विषय में एक आशंका उठाकर सुन्दर समाधान किया है। वे लिखते हैं, 'यह असंख्य प्रदेशी लोकाकाश अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों का अधिकरण कैसे हो सकता है ? इसमें कोई आपत्ति नहीं है। सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति के योग से परमाणु आदि सूक्ष्म भाव को परिणत हो जाते हैं। इसलिए एक एक आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु व स्कन्धों का निवास निर्विरोध होता है[1]।"

पुद्गल (Matter) के भेद-प्रभेद

पुद्गल तत्त्व को समझाने के लिए नाना अपेक्षाओं से उसे नाना भेद-प्रभेदों में बाँटा है। वे भेद-प्रभेद अत्यन्त वैज्ञानिक विधि से किये गये हैं।

छव भेद—सूक्ष्मता और स्थूलता को लेकर पुद्गल स्कन्ध छव[2] प्रकार का है।

१—अतिस्थूल। २—स्थूल। ३—स्थूल सूक्ष्म। ४—सूक्ष्म स्थूल। ५—सूक्ष्म। ६—अतिसूक्ष्म।

इन्हीं छव भेदों का श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने नियमसार[3] ग्रन्थ में सोदाहरण वर्णन करते हुए लिखा है—"जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन-भेदन तथा अन्यत्र

---

१. स्यादेतदसंख्यातप्रदेशो लोकः, अनन्तप्रदेशस्यानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरण मिति विरोध स्ततो नानन्त्य मिति। नैष दोषः। सूक्ष्मपरिणामवगाहन शक्तियोगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्म भावेण परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाश प्रदेशेऽनन्तानन्तानामवस्थानं न विरूद्धयते।

२. (क) अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः, स्थूलसूक्ष्माश्च, सूक्ष्मस्थूलाश्च।
सूक्ष्मा, अति सूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड् भेदा ॥२१॥
—श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत-नियमसार।

(ख) वादरवादर, वादर. वादरसुहुमं च सुहुमंथूलंच।
सुहुमं च सुहुमंसुहुमं च धरादियं होदि छब्भेयं ॥
—गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६०२।

३. भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूला इति स्कन्धाः।
स्थूला अपि विज्ञेयाः सर्पिर्जलतैलाद्याः ॥२२॥
छाया तपाद्या : स्थूलेतर स्कन्धा इति विजानीहि।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥२३॥
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्यकर्मवगर्णा च पुनः।
तद्विपरीतः स्कन्धा अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥२४॥

[stamp]

वहन सामान्य रूप से हो सके वह पुद्गल-स्कन्ध अति स्थूल (Solid) कहलाता है। जैसे—भूमि, पत्थर, पर्वत आदि। जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन-भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र वहन हो सके उस पुद्गल-स्कन्ध (Liquids) को स्थूल कहते हैं। जैसे—घृत, जल, तैल आदि। जिस पुद्गल-स्कन्ध का छेदन-भेदन अन्यत्र वहन कुछ भी न हो सके ऐसे नेत्र से दृश्यमान पुद्गल-स्कन्ध (Visible Energies) को स्थूल-सूक्ष्म कहते हैं। जैसे—छाया, तप आदि। नेत्र को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषय भूत पुद्गल-स्कन्ध (Ultra visible but intra sensual matter) को सूक्ष्म स्थूल कहते हैं। जैसे—वायु तथा अन्य प्रकार की गैसें। वे सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध जो अतिन्द्रिय हैं (Ultra sensual matter) को सूक्ष्म कहते हैं। जैसे—मनोवर्गणा, भाषा-वर्गणा, काय-वर्गणा आदि के सूक्ष्म पुद्गल। ऐसे पुद्गल-स्कन्धों को जो भाषा-वर्गणा व मनोवर्गणा के स्कन्धों से भी सूक्ष्म हों, अतिसूक्ष्म (Altimate atom) कहते हैं। जैसे—द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि।

तीन भेद—जीव और पुद्गल की पारस्परिक परिणति को लेकर पुद्गल के तीन[1] भेद किये गये हैं—

१—प्रयोग परिणति। २—मिश्र परिणति। ३—विस्रसा परिणति।

ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा ग्रहण किये गये हैं वे प्रयोग परिणत कहलाते हैं। जैसे—इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त, माँस आदि। ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा परिणत होकर पुन: मुक्त हो चुके हैं उन्हें मिश्र परिणत कहा जाता है। जैसे—कटे हुए नख, केश, श्लेष्म, मल, मूत्र आदि। ऐसे पुद्गल जिनमें जीव का सहाय नहीं और स्वयं परिणत हैं उन्हें विस्रसा परिणत पुद्गल कहा जाता है। जैसे—वार्दल, इन्द्र-धनुष आदि।

शब्द, छाया, आतप आदि भी पुद्गल हैं

जैन-दर्शन में पुद्गल के कुछ ऐसे भेद-प्रभेद माने हैं, जिन्हें प्राचीन काल के अन्य दार्शनिक पुद्गल रूप में स्वीकार नहीं किया करते थे। पर उनमें से बहुत सारों को आधुनिक विज्ञान ने अब पुद्गल रूप में मान लिया है। वे पदार्थ हैं शब्द[2], अंधकार छाया, आतप (धूप), उद्योत प्रभा आदि।

---

१. तिविहा पोग्गला पण्णत्ता-पओगपरिणया, मिससा परिणया, विससा परिणया। —भगवती शतक ८।१।१।

२. शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद तमश्छाया तपोद्योत प्रभावांश्च। —श्री जैन सि० दी० प्र० १।

शब्द

भिद्यमान अणुओं का ध्वनि रूप परिणाम शब्द[१] है। वह अरूप या अभौतिक नहीं है, क्योंकि वह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जो कुछ भी इन्द्रिय ग्राह्य है वह स मूर्त (सरूप) है और पौद्गलिक है।

शब्द दो प्रकार का है—प्रायोगिक[२] और वैस्रसिक।

प्रायोगिक[३]—जिसका उच्चारण प्रयत्नपूर्वक हो। वह दो प्रकार का है—भाषात्मक और अभाषात्मक।

भाषात्मक—अर्थ प्रतिपादकवाणी।

अभाषात्मक—जिस ध्वनि से किसी भाषा की अभिव्यक्ति न होती हो। यह चार प्रकार का है—तत, वितत, घन, और सुषिर।

तत[४]—तबला, पुष्कर, भेरी, दुर्दर आदि का शब्द।
वितत[५]—वीणा आदि का शब्द।
घन[६]—ताल, घण्टा आदि का शब्द।
सुषिर[७]—शंख, बांसुरी आदि का शब्द।
वैस्रसिक[८]—मेघादि जन्य स्वाभाविक शब्द को वैस्रसिक कहते हैं।

---

१. संहन्यमानानां भिद्यमानानां ध्वनिरूपः परिणामः शब्दः।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका।

२. प्रायोगिको वैस्रसिकश्च।

३. तत्रप्रयत्नजन्यः प्रायोगिकः भाषात्मकोऽभाषात्मको वा।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका।

४. चर्मतननिमित्तः पुष्कर-भेरी-दुर्दरादि प्रभवस्ततः।
—सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २४।

५. तन्त्रीकृत वीणासुघोषादि समुद्भवो विततः।
—सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २४।

६. ताल घंटा लालनाद्यभिघातजो घनः। —सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २४।

७. वंश-शंखादि निमित्तः सौषिरः। —सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २४।

८. स्वभावजन्यो वैस्रसिकः। —श्री जैन सिद्धान्त दीपिका।

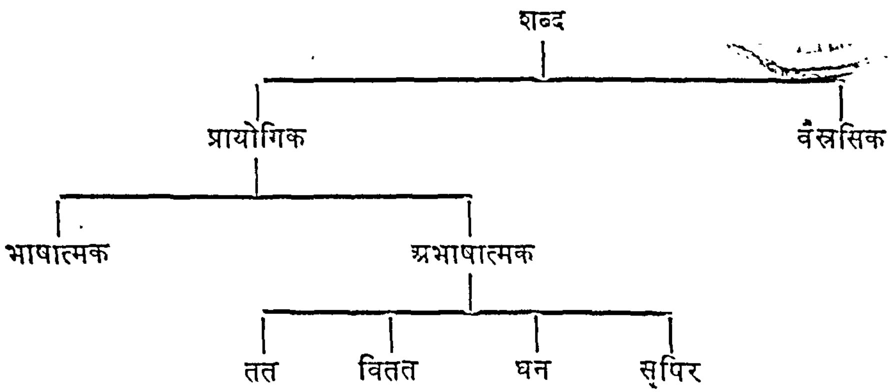

प्रकारान्तर से शब्द के जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द ये तीन भेद[1] भी किए जाते हैं।

शब्द की गति का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने बताया—तीव्र प्रेरणा प्राप्त शब्द कुछ एक क्षणों में सारे ब्रह्माण्ड को पारकर उसके अन्त भाग तक पहुँच सकता है।[2]

अन्धकार और प्रकाश

कृष्ण वर्ण बहुल पुद्गल का जो परिणाम विशेष है वह अन्धकार है। सूर्य, दीप आदि का उष्ण प्रकाश आतप है। प्रतिबिम्ब रूप पुद्गल परिणाम छाया है। चन्द्रादिक का अनुष्ण प्रकाश उद्योत है और मणि आदि की किरण-पुंज प्रभा[3] है।

---

१. अथवा जीवाजीवमिश्र भेदात् त्रेधा।
—जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र १२ की टीका।

२. जीवेणं भन्ते जाइं दव्वाइं भासत्ताई गहियाइं निस्सरन्ति ताइं किं भिण्णाइं निस्सरन्ति अभिण्णाइं निस्सरन्ति ? गोयमा ! भिण्णाइं वि निस्सरन्ति अभिण्णाइं वि निस्सरन्ति ! तत्थतणं जाइं दव्वाइं भिण्णाइ निस्सरन्ति ताइं अणंतगुण परि वुड्ढिए परि वुड्ढमाणाइं लोयतं फुसंति। जाइं अभिण्णाइं निस्सरन्ति ताइं असंखेज्जाओ ओगाहणवग्गणाओ गंता भेदमावज्जंति संखेज्जाइं जोयणाइंगंता विद्धंस मागच्छति।

३. कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः। सूर्यादीनामुष्णः प्रकाश आतपः। प्रतिबिम्बरूपः पुद्गलपरिणामः छाया। चन्द्रादीनामनुष्णः प्रकाश उद्योतः। मण्यादीनां रश्मिः प्रभा। —श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र १२ की टीका

हालांकि प्राचीन आचार्यों ने उद्योत, आतप आदि नाना भेद, प्रभेदों से पुद्गल द्रव्य की विस्तृत परिभाषा की है तथापि उक्त सारे भेद प्रभेदों को हम दो भेदों में ले सकते हैं। उद्योत, आतप, प्रभा आदि प्रकाश के ही भेद हैं और छाया अन्धकार में अन्तर्निहित हो सकती है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य

जैन-दर्शनकारों ने कहा—द्रव्य[1] वह है जो गुण और पर्यायों का आश्रय है। वस्तु का सहभावी धर्म[2] गुण है। उसका सम्बन्ध द्रव्यत्व के साथ है। वह उस द्रव्य के साथ था, है और रहेगा। वस्तु का जो क्षणिक परिवर्तन स्वभाव है वह पर्याय है *अर्थात् प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन चालू है। वहाँ पूर्वाकार[3] का परित्याग* होता है और उत्तराकार का ग्रहण। इसी लिए आचार्यों ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार भी की है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्[4]—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण—स्वभाव से युक्त पदार्थ हैं। यहाँ उत्पाद और व्यय द्रव्य के पर्याय रूप हैं और ध्रौव्य गुण रूप। पंचास्तिकाय सार में द्रव्य की उक्त दोनों ही व्याख्यायें की हैं[5]। जिस प्रकार सोने के गहने को तोड़कर नये नये आकार के गहनों के निर्माण होने में स्वर्णत्व सब में अवस्थित रहता है। वहाँ स्वर्णत्व ध्रौव्य है और पूर्वाकारों का विनाश व उत्तराकारों का आदान क्रमशः व्यय और उत्पाद हैं।

दृश्यमान सृष्टि के उपादान परमाणु हैं। उन परमाणुओं के ही यौगिक परिणाम से समस्त पदार्थ समूह निष्पन्न हुआ है। उस पदार्थ समूह में बनना और बिगड़ना

---

१. (क) गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।
(ख) गुणाणमासवो दव्वं। —उत्तराध्ययन अध्ययन २८-६।

२. सहभावी धर्मो गुणः। —श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र ४०।

३. पूर्वोत्तराकार परित्यगादानं पर्यायः
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र ४४।

४. श्री तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ : २६।

५. द्रव्यं सल्लक्षणकं उत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तम्। गुण पर्यायाश्रयं वा यत्तद् भणंति सर्वज्ञाः।

प्रति समय चालू है फिर भी परमाणुत्व धर्म उनका सदा सुरक्षित है। एक भी परमाणु न कभी नया बनता है और न कभी किसी परमाणु का विनाश होता है। वे इस परिवर्तनशील विश्व के शाश्वत सदस्य हैं। लकड़ी जल गई, कुछ द्रव्य कोयला बना, कुछ राख और कुछ धुआँ। परमाणु ज्यों के त्यों रहे। अन्तर केवल उनकी पर्यायों का पड़ा। पहले वे काष्ठ के रूप में थे, और अब दूसरे नाना द्रव्यों के रूप में। पर्यायों का स्थूल परिवर्तन कादाचित्क है, पर सूक्ष्म परिवर्तन प्रति समय। लकड़ी जलकर राख हुई यह स्थूल परिवर्तन हुआ। वही लकड़ी किसी सुरक्षित स्थान में सुस्थिर पड़ी है तो भी उसमें किसी भी समय परिवर्तन तो चालू ही है। वह परिवर्तन पार्थिव नेत्रों से सीधा देखने में नहीं आता पर एक लम्बी अवधि के पश्चात् जब वही काष्ट द्रव्य जीर्ण शीर्ण होकर मिट्टी के रूप में परिणत हो जाता है, तब हम सहज ही समझ लेते हैं उस काष्ठ द्रव्य में पूर्वाकार का परित्याग और उत्तराकार का आदानरूप परिवर्तन चालू ही था। यह काष्ठ आदि से अन्त तक किसी एक ही क्षण में पूर्व पर्याय से उत्तर पर्याय में नहीं आया है।

यह परिवर्तन कैसे और क्यों होता है ? ठोस से ठोस वस्तु चाहे वह लोहा हो या शीशा प्रति समय संख्य, असंख्य व अनन्त परमाणु उससे क्षरित हो रहे हैं और नये परमाणु व सूक्ष्म स्कन्ध उसमें प्रवेश पा रहे हैं। कठोर द्रव्यों में भी जो ऊपर से स्थिरता लगती है वह उनकी अन्तरंग स्थिति में नहीं है। उनके घरेलू वातावरण में तो परमाणुओं की चहल-पहल और उछल-कूद बनी ही रहती है। जैसे कि गोम्मट-सार[1] जीव कांड में बताया गया है—पुद्गल द्रव्य में संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु चलित होते रहते हैं।

पुद्गलों के संस्थान

आकृति को संस्थान[2] कहते हैं। वह संस्थान दो प्रकार का होता है—इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। अकलंक देव ने तत्त्वार्थ[3] राजवार्तिक में इन्हीं दो शब्दों को इत्थं और अनित्थं संज्ञा से अभिहित किया है। नियत आकार वाले पुद्गल को इत्थंस्थ कहा जाता है[4]।

---

१. पुद्गल द्रव्ये ह्यणवः संख्यातादयो भवन्ति चलिता हि। गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३।

२. आकृतिः—संस्थानम्, इत्थंस्थम् अनित्थंस्थम्।

३. संस्थानं द्विधेत्थंलक्षणं अनित्थंलक्षणं च।—तत्त्वार्थ राजवार्तिक अ० ५।२४।

४. तत्र नियताकारं इत्थंस्थम्।

जैसे—त्रिकोण[1], चतुष्कोण, आयतन, परिमण्डल आदि। इनके अतिरिक्त जो अनियत[2] आकार हैं उन्हें अनित्थंस्थ कहा जाता है, जैसे—बादल आदि की आकृतियाँ।

पुद्गल विभाजन के प्रकार

पुद्गल-द्रव्य का विभाजन पांच[3] प्रकार से किया गया है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, प्रतर और अनुतटिका।

(१) उत्कर—मूंग की फली का टूटना।
(२) चूर्ण—गेहूँ आदि का आटा।
(३) खण्ड—पत्थर के टुकड़े।
(४) प्रतर—अभ्रक के दल।
(५) अनुतटिका—तालाब की दरारें।

पुद्गल के चार गुण

पद्गल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वभाव वाला होता है। भगवती सूत्र में यही बात अधिक स्पष्टता से बताई गई है। वहाँ लिखा गया है—'पुद्गल[4] पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श से युक्त होता है।" जैन शास्त्रों के अनुसार वर्ण मात्र पाँच[5] प्रकार का होता है—'नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित'। रस पाँच[6] प्रकार का है— तिक्त, कटुक, आम्ल, मधुर और कषाय। 'गन्ध दो[7] प्रकार का होता है—'सुगन्ध और दुर्गन्ध'। स्पर्श आठ[8] प्रकार का होता है—'मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।'

---

१. वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतनपरिमण्डलादित्थम्।—तत्वार्थ राजवार्तिक अ० ५।२४।

२. अनियताकारं अनित्थंस्थम्।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र १२ की टीका।

३. स च पंचधा उत्करः, चूर्णः, खण्डः, प्रतरः, अनुतटिका।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र १२ की टीका।

४. पोग्गले पंचवण्णे, पंचरसे, दुगन्धे, अट्ठफासे पण्णत्ते।
—व्याख्या प्रज्ञप्ति श० १२ उ० ५।

५. नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण, लोहित भेदात्।—तत्वार्थ राजवार्तिक ५।२३।१०।

६. तिक्त, कटुकाम्ल, मधुर, कषाया रसप्रकाराः।
—तत्वार्थ राजवर्तिक ५।२३।८।

७. गन्धः सुरभिरसुरभिश्च। —तत्वार्थ राजवर्तिक ५।२३।९।

८. मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीतोष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, स्पर्श भेदाः।
—तत्वार्थ राजवार्तिक २३।७।५।

एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं । किन्तु किसी भी स्थूल स्कन्ध में पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श मिलेंगे। स्पर्शों की अपेक्षा से स्कन्धों के दो भेद हो जाते हैं—चतुःस्पर्शी स्कन्ध और अष्ट स्पर्शी स्कन्ध। सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गल जाति चतुःस्पर्शी स्कन्धात्मक है । चतुःस्पर्शी पुद्गलों में उक्त आठ स्पर्शों में से शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये चार स्पर्श मिलेंगे। अपेक्षा विशेष से यह भी कहा जा सकता है उक्त चार स्पर्श ही पुद्गल के मौलिक स्पर्श हैं। परमाणु में उक्त चारों में से ही कोई दो स्पर्श मिलेंगे । कोई परमाणु शीत या उष्ण होगा या स्निग्ध और रूक्ष होगा । मृदु, कठिन, गुरु, लघु इन चार स्पर्शों में से किसी भी अकेले परमाणु में कोई स्पर्श नहीं मिलता । परिणाम यह हुआ कि ये चार स्पर्श मौलिक न होकर संयोगज है। इन चार स्पर्शों के उत्पाद की कोई व्यवस्थित प्रक्रिया मिल नहीं रही है परन्तु तथा प्रकार की नियामक प्रक्रिया होनी अवश्य चाहिए। नहीं तो क्या कारण हो सकता है कि असंख्य[1] अनन्त परमाणुओं के सयोग से बने हुए स्कन्धों में कुछ चतुःस्पर्शी ही रह जाते हैं और कुछ अष्ट स्पर्शी हो जाते हैं। यह एक विशेष बात है कि जैन दार्शनिकों ने गुरुत्व (भारीपन) और लघुत्व (हल्केपन) को भी मौलिक स्वभाव नहीं माना है। वह भी विभिन्न परमाणुओं का सयोगज परिणाम है। खोज की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का विषय है—स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर जाते हुए पुद्गल भार आदि गुणों से रहित हो जाते हैं और सूक्ष्मत्व से स्थूलत्व की ओर जाते हुए उसमें गुरुत्व मृदुत्व आदि योग्यतायें उत्पन्न हो जाती हैं।

आदि वैस्रासिक बन्ध

बिजली, उल्का, इन्द्रधनुष आदि पदार्थों के आधुनिक विज्ञान में बहुत सारे अन्वेषण हो चुके हैं। जैन दर्शन में भी इन पदार्थों के विषय में संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण विवेचन मिलता है। विभिन्न परमाणुओं के संश्लेष को वहां बन्ध[2] कहा गया है। उस बन्ध के प्रमुख दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक जीव प्रयत्नजन्य होता है और वह सादि है। वैस्रसिक का अर्थ है—स्वाभाविक, जिस बन्ध में व्यक्ति विशेष के प्रयत्न की अपेक्षा न रहती हो । इसके दो प्रकार हैं—सादि वैस्रसिक और अनादि वैस्रसिक । सादि वैस्रसिक बन्ध वह है जो बनता है, बिगड़ता है और उसके

---

१. अनन्तानन्त परमाणु समुदय निष्पाद्योपि कश्चित् चाक्षुषः कश्चिदचाक्षुषः।
—सर्वार्थ सिद्धि।

२. संश्लेषः-बन्धः, अयमपि प्रायोगिकः सादिः वैस्रसिकस्तु सादिरनादिश्च।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश १ सूत्र १२ का टीका।

बनने बिगड़ने में किसी व्यक्ति विशेष की अपेक्षा नहीं रहती । उसके उदाहरण हैं बादलों में चमकने वाली बिजली, उल्का, मेघ, इन्द्रधनुष आदि ।[1]

बिजली क्या है ? इस विषय में बताया गया है—"स्निग्ध रूक्षत्व गुणनिमित्तो विद्युत्"—स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले स्कन्धों के संयोग से बिजली पैदा होती है। उल्का क्या है ? इस विषय में अन्वेषण करते हुए वैज्ञानिकों ने एक बहुत बड़ा घटनात्मक इतिहास गढ़ डाला है । जैन विचार सरणि के अनुसार उल्का ताराओं का टूटना नहीं है और न उनकी पारस्परिक टक्कर का परिणाम है । वह तो केवल जो नाना पुद्गल स्कन्ध आकाश में भरे पड़े हैं उनका ही संघर्ष जन्य परिणाम है । इसी प्रकार विविध अणुओं का संयौगिक परिणाम बादल इन्द्रधनुष आदि हैं ।

आधुनिक विज्ञान में परमाणु

विज्ञान के क्षेत्र में निर्विवादतया माना जाता है कि परमाणुवाद यूनान की देन है । डेमोक्रेटस (Democritas) संसार का पहला व्यक्ति था जिसने कहा—"यह संसार शून्य आकाश और अदृश्य, अविभाज्य व अनन्त परमाणुओं की एक इकाई है । दृश्य और अदृश्य सारे संगठन परमाणुओं के संयोग और वियोग का ही परिणाम है[2] ।" डेमोक्रेटस यूनान का एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक था जो ईस्वी पूर्व ४६० में जन्मा और ईस्वी पूर्व ३७० तक जीया । परमाणु सम्बन्धी इसकी धारणा को हम इस प्रकार जान सकते हैं[3]—

(१) पदार्थ (Matter) संसार में एकाकार व्याप्त नहीं है अपितु विभक्त (Discrete) हैं ।

(२) समस्त पदार्थ पिण्ड ठोस परमाणुओं से बनें हैं । वे परमाणु विस्तृत आकाशान्तर से पृथक् हैं । प्रत्येक परमाणु एक स्वतन्त्र इकाई है ।

(३) परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी हैं । वे पूर्ण हैं, ताजे (नये) हैं, जैसे कि ये संसार की आदि में थे ।

---

१. वैस्रसिकः । तद्यथा-स्निग्ध रूक्षत्व गुण निमित्तो विद्युदुल्का जलधाराग्नीन्द्र-धनुरादि विषयः । —सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २४ ।

2. The world consists of empty space and an infinite number of indivisible invisibly small atoms and that the appearance and disappearance of bodies was due to the union and seperation of atoms. —*Cosmology Old and New, p. 6*

3. Comprehensive Treatise on Inorganic and Theoritical Chemistry. —*J. W. Mellor*

(४) परमाणु परमाणु में आकार, लम्बाई, चौड़ाई और वज़न को लेकर पृथक्ता होती है।

(५) परमाणुओं के प्रकार संख्यात हैं। पर हर एक प्रकार के परमाणु अनन्त हैं।

(६) पदार्थों के गुण परमाणुओं के स्वभाव, संविधान अर्थात् कौन से परमाणु किस प्रकार से संयुक्त हुए हैं पर निर्भर हैं।

(७) परमाणु निरन्तर गतिशील हैं।

डेमोक्रेटस से लेकर ईसा की १९वीं सदी तक परमाणु के नाना अन्वेषण होते रहे और नये नये तथ्य सामने आते रहे। पर अब तक वह परमाणु वैज्ञानिकों की दृष्टि में अच्छेद्य, अभेद्य व सूक्ष्मतम ही बना रहा।

परमाणु की सूक्ष्मता

विज्ञान का परमाणु कितना सूक्ष्म है? इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि पचास शंख परमाणुओं का भार केवल ढाई तोले के लगभग होता है। इसका व्यास एक इंच का दस करोड़वां हिस्सा है।

सिगरेट लपेटने के पतले कागज अथवा पतंगी कागज की मुटाई में एक से एक को सटाकर रखने पर एक लाख परमाणु आ जायेंगे।

धूलि के एक छोटे से कण में दश पदम से अधिक परमाणु होते हैं।

सोडावाटर को गिलास में डालने पर जो छोटी छोटी बूंदें निकलती हैं उनमें से एक के परमाणुओं को गिनने के लिए संसार के तीन अरब व्यक्तियों को बिठा दिया जाए और बिना खाये, पीये, सोये लगातार प्रति मिनट तीन सौ की चाल से गिनते जायें तो उस नन्हीं बूंद के परमाणुओं की समस्त संख्या को समाप्त करने में चार महीने लग जायेंगे।

पतले केश को उखाड़ते समय उसकी जड़ पर जो रुधिर की सूक्ष्म बूंद लगी रहेगी उसे अणुवीक्षण की ताकत से इतना बढ़ा कर देखा जाए कि बूंद छब या सात फीट व्यास की दीख पड़े तो भी उसके भीतर के परमाणु का व्यास [illegible] इंच ही हो सकेगा।

पाँच भूतों से ९२ तत्त्वों की ओर

घड़ा मिट्टी से बनता है। पिण्ड घड़ा, ठिकरा किसी भी रूप में हो, किन्तु मिट्टी उसमें अवश्य विद्यमान रहती है। आकार बदलने पर भी जो पदार्थ उन सभी आकृतियों में मौजूद रहता है वह उपादान कारण (Material cause) कहलाता है। यह रूपमान जगत् जिसमें असंख्य प्रकार के पार्थिव पदार्थ भरे पड़े हैं उन पदार्थों का

उपादान कारण क्या है ? इस प्रकार के प्रश्नों से ही पाँच भूतों की कल्पना आई, ऐसा लगता है । भारतवर्ष में भी कुछ ऋषियों ने माना था—पृथ्वी जो अधिकांश वस्तुओं का उपादान कारण है जल से पैदा होती है, जल आग से और आग[1] हवा से । किसी ने जल को प्रथम माना । आकाश को आत्मा से पैदा हुआ माना । इस प्रकार यूनान में चार्वाक के समकालीन थेलस[2] (Thales) ने जल को सृष्टि का मूल कारण माना । उनके शिष्य अनक्सिमन[3] (Anaximens) ने वायु का और हैराक्लिंतुस ने आग को मूल कारण सिद्ध किया । इस प्रकार ईस्वी पूर्व सातवीं, आठवीं शताब्दी से ईसा की सतरहवीं शताब्दी तक चार या पाँच महाभूतों का बोल-बाला था । भारतीय नास्तिकों ने पहले आकाश को भी भूत माना था, किन्तु फिर उसे तर्क सिद्ध न समझ कर छोड़ दिया । फिर वे चार ही महाभूतों के उपासक रहे । ये पाँच भूत सारी सृष्टि के मूल कारण नहीं हैं इस बात का अन्त तब हुआ जब कि रसायन के क्षेत्र में लोहे या तांबे से सोना बनाने की दौड़ लगी थी । सर्वप्रथम बोयल[4] (Boyle) ने सन्देहवादी रसायनी नामक पुस्तक लिखी और थेलस के जमाने से माने गए भूतों के मूल तत्त्व होने से सन्देह प्रकट किया । उसका विश्वास था ये पाँच भूत मूल तत्त्व ही नहीं हैं । मूल तत्त्व तो इनसे अतिरिक्त और पदार्थ हैं । ये भूत तो उनके सम्मिश्रण का परिणाम हैं । उस समय तक वायु में भार नहीं माना जाता था । बोयल ने पहले-पहल बताया कि उसमें भी भार है । उस समय तक वायु को अधिकांशतया मूल तत्त्व ही माना जाता था । विभिन्न स्वभाव की गैसों का आविष्कार उस समय तक हो गया था किन्तु वे सब वायु के ही प्रकार मानी जाने लगीं ।

कार्बन डाइऑक्साइड (Carbondioxide) का पता पहले-पहल इंग्लैंड निवासी ब्लैक ने सन् १७५५ में लगाया । इसका नाम स्थिर वायु रखा । आज के मूल रासायनिक तत्त्वों में से ऑक्सीजन की खोज प्रीस्टली ने की और दिखलाया कि आग को जलाने व प्राणधारी को श्वास लेने के लिए भी इसकी आवश्यकता है । हेन्री-कवेडिन्स ने पानी पर अन्वेषण किया और उसे ऑक्सीजन और हाईड्रोजन के सम्मि-

१. एतरेयारण्यक २।३।५ ।
२. ई० पूर्व० ६४०—५५० ।
३. ई० पू० ५३५—४२५ ।
४. १६६१ ईस्वी ।

श्रण का परिणाम सिद्ध किया। तव से पानी मूल द्रव्य है यह धारणा मिट गई। पानी का स्कन्ध अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर बना है। पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में जब नई खोज आरम्भ हुई, उस समय तक प्राचीन यूनानी विद्वानों की कृतियाँ योरप में श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाने लगी थी। गैलीलियो, न्युटन, वोयल आदि डेमोक्रैटस के परमाणुवाद को आदर की दृष्टि से देखते थे। जॉनडाल्टन ने पहले-पहल मूल और मिश्रित तत्त्व के अन्तर को साफ साफ बतलाया। उसने सिद्ध किया कि मिश्रित तत्त्व वे हैं जो एक या अनेक मूल तत्त्वों से मिल कर बने हैं। मूल तत्त्व अमिश्रित हैं। साथसाथ यह भी सिद्ध किया कि भिन्न-भिन्न तत्त्वों के परमाणु भार में भिन्नता रखते हैं और यदि तत्त्वों को उतने ही परिमाण में मिलाया जाये तो सर्वदा एक सा ही परिणाम रहेगा। इस प्रकार मौलिक तत्त्वों की खोज का द्वार खुला और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक उनकी संख्या तीस हो गई।

इन अन्वेषणों में हाईड्रोजन के परमाणु को सबसे छोटा देखकर पहले यह समझा गया था कि यह एक ही पदार्थ सब तत्त्वों का मूल है। किन्तु यह धारणा अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकी। हाईड्रोजन का परमाणु जब अधिक बारीकी से तौला गया तो स्पष्ट हो गया कि यह सभी पदार्थों का मूल तत्त्व नहीं हो सकता। मौलिक द्रव्यों की परिभाषा मानी गई थी, ऐसे द्रव्य जो किसी भी सम्मिश्रण का परिणाम न हों, जो मूलभूत परमाणुओं के ही विभिन्न प्रकार हों। अब तक वह धारणा जो पाँच भूतों से आरम्भ हुई थी, मौलिक तत्त्वों का रूप लेकर क्रमशः बढ़ती हुई ९२ की संख्या तक पहुँच गई है। वे ९२ तत्त्व[1] इस प्रकार हैं—

१—हाइड्रोजन	२—हेलियम्
३—लिथियम्	४—बेरिलियम्
५—बोरान्	६—कार्बन
७—नाइट्रोजन	८—ऑक्सीजन
९—फलुओरिन्	१०—न्योन्
११—सोडियम्	१२—मेग्नेसियम्
१३—अल्मोनियम्	१४—सिलिकोन्
१५—फास्फोरस	१६—गंधक
१७—क्लोरिन्	१८—अर्गोन
१९—पोटास	२०—केलसियम्
२१—स्कॅडियम्	२२—टीटानियम्

१. मौलिक तत्त्वों की संख्या अब ९२ से १०३ तक पहुँच गई है।

२३—वनाडियम्	२४—क्रोमियम्
२५—मंगानीस	२६—लोहा
२७—कोवाल्ट	२८—निकल
२९—तांवा	३०—जस्ता
३१—गलियम्	३२—जर्मानियम्
३३—संखिया	३४—सेलेनियम्
३५—ब्रोमिन्	३६—क्रुप्टोन
३७—रूवीडियम्	३८—स्ट्रोनटियम्
३९—यित्रियम्	४०—जिर्कोनियम्
४१—न्युवयम्	४२—मोलिब्देनम्
४३—मसूरियम्	४४—रूथेनियम्
४५—र्होडियम्	४६—पल्लाडियम्
४७—चांदी	४८—कड्मियम्
४९—इंडियम्	५०—टिन्
५१—सुर्मा	५२—तेलरियम्
५३—ग्रायोडियन	५४—क्सेनम्
५५—सएशियम्	५६—त्ररियम्
५७—लन्थानम्	५८—सेरियम्
५९—प्रसेग्रोडियम्	६०—न्योडिमियम्
६१—इलिनियम्	६२—समरियम्
६३—यूरोपियम्	६४—गडिनियम्
६५—टवियम्	६६—डिस्प्रोसियम्
६७—हो मियम्	६८—एर्वियम्
६९—थूलियम्	७०—उतेवियम
७१—लुतेसियम्	७२—हाफनियम्
७३—तन्तालुम्	७४—तुङ्स्तेन्
७५—रहेनियम्	७६—ग्रोस्मियम्
७७—हरिडियम्	७८—प्लाटिनम्
७९—सोना	८०—पारा
८१—थलियम्	८२—सीसा
८३—विस्मथ्	८४—प्लोमियम्
८५—ग्रस्टेटिन्	८६—रडोन

८७—फ्रांसियम्	८८—रेडियम्
८९—अक्टीनियम्	९०—थोरियम्
९१—प्रोटोअक्टीनियम्	९२—यूरेनियम्

मौलिक तत्त्वों का संगठन

ई० सन् १८११ तक अणु ही सबसे सूक्ष्म तत्त्व समझा जाता था। क्योंकि तब तक यह धारणा थी—सोना, चांदी, लोहा आदि मौलिक तत्त्व एक दूसरे में बदलते नहीं। इसलिए सोना, चांदी आदि के सूक्ष्मतम अणु ही मूलभूत हैं। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अवोगद्रा ने अणु से परमाणु को अलग किया। २६ साल तक परमाणु सूक्ष्म अवयव रहा। फिर १८९७ ई० में सर जे० जे० टामसन (Sir J. J. Tomson) ने परमाणु के अन्वेषण के समय एक टुकड़ा पाया जो छोटे से हाइड्रोजन परमाणु से भी अत्यन्त छोटा था। इसी रहस्यमय अणु ने परमाणुवाद का कायापलट ही कर दिया। जो परमाणु ठोस सूक्ष्मतम इकाई के रूप में माना गया था, विविध अन्वेषणों से उसी परमाणु में ढोल में पोल वाली बात निकली। टामसन के शिष्य रदर फोर्ड (Rathar Ford) ने परमाणु के भीतरी ढांचे के बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण खोजें की। इसलिए लोग उसे परमाणु का पिता भी कहते हैं। यही छोटा परमाणु का टुकड़ा एक महत्त्वपूर्ण भाग इलेक्ट्रोन कहा जाता है। परमाणु के नये रूप को समझ लेने के पश्चात् सोना, चांदी आदि मूलभूत तत्त्व एक नए स्वरूप से ही पहचाने जाने लगे।

परमाणु का वर्तमान स्वरूप—छोटे से छोटा अणु जो परमाणु नाम से पहचाना जाता था उसके उदर में सौर परिवार (Solar System) का एक नया संसार निकल पड़ा है। प्रत्येक परमाणु में अनेकों कण हैं। कुछ केन्द्र में स्थित हैं और कुछ उसी केन्द्र की नाना कक्षाओं में निरन्तर अत्यन्त तीव्र गति से परिभ्रमण करते हैं; जैसे कि सूर्य के चारों ओर शनि, बुद्ध, मगल, शुक्र आदि ग्रह। केन्द्रस्थ कणों में धन विद्युत् और परिक्रमाशील कणों में ऋण विद्युत् होती है। सारे परमाणु ९२ मौलिक भेदों में इसलिए बंट जाते हैं कि उनकी संघटना में ऋणाणुओं और धनाणुओं का क्रमिक अन्तर रहता है।

हाइड्रोजन परमाणु—९२ तत्त्वों में पहला तत्त्व हाइड्रोजन है। यह एक प्रकार की गैस है, जिसका पता कवेण्डिस ने १७६६ ई० में लगाया था। इसका परमाणु सबसे छोटा यानी हलका परमाणु है। १९वीं सदी के प्रथम चरण में यह समस्त तत्त्वों का मूल माना गया था, किन्तु अब वैज्ञानिक क्षेत्र में इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। अब यह ९२ तत्त्वों में पहला स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध हो चुका है। इस हाइड्रोजन परमाणु के कलेवर में केवल एक धनाणु है जिसे प्रोटोन (Proton) कहते हैं और एक ऋणाणु है जिसे इलक्ट्रोन (Electron) कहते हैं। धन बिजली का कार्य है, किसी

भी पदार्थ को अपनी ओर खींचे रखना और ऋण-विद्युत् का कार्य है, पदार्थ को दूर फेंकना। इन दो विरोधी विद्युत् कणों का परिणाम हाइड्रोजन अणु है, पर दोनों प्रकार की विद्युत् सम मात्रा में होने से हाइड्रोजन का परमाणु न ऋणात्मक विद्युत्-वाला है न धनात्मक; अपितु वह इन दोनों स्वभावों से तटस्थ है। एक ऋणाणु और धनाणु की इकाई रूप इस हाइड्रोजन परमाणु का व्यास $\frac{१}{२००,०००,०००}$ इंच है, और इसका तोल—$\frac{१६४}{१००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०}$ ग्राम है। उसी हाइड्रोजन परमाणु के ऋणाणु और धनाणु का स्वरूप निम्न प्रकार से है—

ऋणाणु (Electron)

व्यास— $\frac{१}{५००,०००,०००,०००,०}$ इंच

गति— १३०० मील प्रति सेकिण्ड।

भार—हाइड्रोजन परमाणु के भार का $\frac{१}{२०००}$ वाँ भाग।

धनाणु (Proton)

व्यास—लगभग ऋणाणु से १० गुना अधिक।

भार— $\frac{१६४}{१००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०}$ ग्राम

यह तो हाइड्रोजन परमाणु का एक सूक्ष्मतम परिचय हुआ, जिसको हम इन शब्दों में दुहरा सकते हैं—एक प्रोटोन इसके केन्द्र में है। एक एलेक्ट्रोन प्रति सैकिण्ड १३०० मील की गति से निरन्तर इसकी प्रदक्षिणा कर रहा है और उन दोनों अणुओं की इकाई का व्यास केवल एक इंच का बीस करोड़वाँ हिस्सा है। इतना छोटा-सा परमाणु भी कितना पोला है, यह भी भौतिक-शास्त्र का एक बहुत बड़ा विस्मय है। प्रोटोन को हम यदि अपनी कल्पना से आंवले के बराबर मान लें और उसी अनुपात से यदि एलेक्ट्रोन और प्रोटोन के बीच की खाली जगह को देखें तो वह ६६६ गज २ फुट चौड़ी होगी।

अन्य परमाणु—मौलिक तत्त्वों में हाइड्रोजन के बाद दूसरा नम्बर हेलियम् का है। इसके केन्द्र में दो प्रोटोन हैं, और दो एलेक्ट्रोन। ये निरन्तर अपने नाभिकण (Nucleus) की परिक्रमा करते हैं। इसी प्रकार तीसरे मौलिक तत्त्व लिथियम् और

चौथे बेरिलियम् आदि में क्रमशः एक-एक बढ़ते हुए अणु केन्द्रगत और कक्षागत हैं। सबसे अन्तिम तत्त्व यूरेनियम् में ९२ प्रोटोन नाभिकण (Nucleus) में हैं और उतने ही एलेक्ट्रोन विभिन्न कक्षाओं में अपने केन्द्र की परिक्रमाएँ करते हैं। हाइड्रोजन परमाणु में एक ही एलेक्ट्रोन है, इसलिए कक्षा भी एक है। अन्य परमाणुओं में सारे प्रोटोन एकीभूत होकर नाभिकरण का रूप ले लेते हैं, पर एलेक्ट्रोन अनेकों टोलियों में अनेकों सुनिश्चित कक्षाएँ बनाकर घूमते हैं।

न्यूट्रोन और पोजीट्रोन—प्रोटोन भी स्वयं अपने आप में स्वतन्त्र कण न होकर न्युट्रोन और पोजीट्रोन का संयोगिक परिणाम है। पहले यह एलेक्ट्रोन की तरह स्वतन्त्र कण माना गया था, पर १९२० में रदरफोर्ड स्वयं सन्देहशील हो गया, क्योंकि उसकी समझ में यह आया—धन और ऋण बिजली वाले प्रोटोन और एलेक्ट्रोन इस ब्रह्माण्ड के उपादान नहीं हो सकते। इनके बीच में धन और ऋण बिजली से रहित कोई तटस्थ कण होना चाहिए। इसके १२ साल बाद सन् १९३२ में रदरफोर्ड के सहकारी चडविक ने रदरफोर्ड की कल्पना में आए कण को प्रोटोन के अन्दर ही खोज निकाला और उसका नाम न्यूट्रोन दिया। न्यूट्रोन का अर्थ है—न—उभय अर्थात् न उसमें एलेक्ट्रोन की ऋणात्मक बिजली है और न प्रोटोन की धनात्मक। दूसरे शब्दों में हम इसे तटस्थ कण भी कह सकते हैं। इसी प्रकार के नाना अन्वेषणों में से पोजीट्रोन का पता चला जो बिजली की मात्रा तो प्रोटोन के समान ही रखता है और भूतमात्रा एलेक्ट्रोन के बराबर।

आधुनिक पदार्थ विज्ञान ब्रह्माण्ड का उपादान खोजने के लिए पहले अणुओं और अणुगुच्छकों में भटका, फिर परमाणुओं में और अब एलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन और पोजीट्रोन में भटकता है। वैज्ञानिकों को अब यह कहने का साहस नहीं हो रहा है कि हम ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मतम उपादान पर पहुँच गए हैं। जब-जब उन्होंने ऐसा विश्वास किया तब-तब उनको अपना वह विश्वास बदल देना पड़ा—क्या पता एलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, पोजीट्रोन आदि सूक्ष्म कणों के भीतर फिर कोई सौर परिवार जैसा सृष्टिक्रम निकल जाए ?

रेडियो क्रिया तत्त्व (Radio-Activity) और द्रव्य परिवर्तन

रेडियो क्रियात्मक तत्त्वों की चर्चा आज संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल रही है। अमेरिका और रूस द्वारा किए जाने वाले उद्जन बमों के परीक्षणों से रेडियो क्रियात्मक अणु किस प्रकार सहस्रों मील दूर नभोमण्डल में छितर जाते हैं और उनका विध्वंसक परिणाम जनजीवन पर कैसा पड़ रहा है, यह आबाल प्रसिद्ध है।

रेडियो क्रिया एक पदार्थ स्वभाव है, जो प्रकृति के इस विशाल क्षेत्र में सहज भाव से कहीं-कहीं उपस्थित होता है। पुद्गल के रहस्यमय स्वभावों का यह एक अच्छा उदाहरण है। यूरेनियम्, रेडियम् आदि ८३ से ९२ एलेक्ट्रोन वाले कुछ तत्त्वों में रेडियो क्रिया स्वयं होते भी देखी जाती है। उद्जन बम, परमाणु बम आदि में आदि से होने वाला रेडियो किरण प्रसरण कृत्रिम प्रयोगों का परिणाम होता है। रेडियो क्रिया का अर्थ है सहज भाव मे या कृत्रिम रूप से जब परमाणु के मूलभूत कण एलेक्ट्रोन और प्रोटोन अलग होते हैं तो बम फटने की तरह धड़ाके के साथ एक प्रकार की लौ निकलती है और प्रकाश की भाँति वह आगे से आगे फैलती जाती है। इसी लौ के प्रसरण को रेडियो क्रिया (Radio-Activity) या किरण प्रसरण (Radiation) कहते हैं।

यूरेनियम् से, जो कि ९२ मौलिक तत्त्वों में अन्तिम है; निरन्तर तीन प्रकार की किरणें निकलती रहती हैं—जिनके नाम क्रमशः अलफा, बीटा और गामा हैं। यूरेनियम् का परमाणु इस प्रसरण में जब अलफा किरण के तीन अंश खो देता है तब वह रेडियम् के रूप में परिवर्तित हो जाता है। रेडियम् स्वयं रेडियो क्रियात्मक तत्त्व है। उससे भी दिन रात तीन किरणें निकलती रहती हैं। जब वह अलफा किरण के पाँच अंश (Particles) खो देता है तो वह स्वयं रेडियम् न रहकर शीशा हो जाता है। अलफा, बीटा और गामा का स्वरूप एक स्वतन्त्र अवयव है। बीटा कण साधारण एलेक्ट्रोन है। अलफा कण चार प्रोटोन, दो एलेक्ट्रोन है। गामा किरण एक सूक्ष्म तरंगोंवाली एक्सरे है। पर साधारण एक्सरे की तरंगें इंच का करोड़वाँ भाग होती है और गामा किरण दस खरबवाँ भाग। तात्पर्य यह हुआ कि उक्त किरण प्रसरण से यूरेनियम् के एलेक्ट्रोन प्रोटोन घटकर रेडियम् की संख्या पर पहुँच जाते हैं और वह यूरेनियम् रेडियम् बन जाता है। वही संख्या जब शीशे के बराबर हो जाती है तो वह रेडियम् जैसी विचित्र स्वभाव वाली धातु शीशे के रूप में बदल जाती है। यह परिवर्तन अन्यान्य मौलिक तत्त्वों में भी प्रयोगों द्वारा लाया जा सकता है। सन् १९४१ में वैज्ञानिक बेंजामिन (Banjamin) ने पारे को सोने के रूप में परिवर्तित कर दिखाया। पारे के अणु का भार दो सौ अंश होता है। उसे एक अंश भार वाले विद्युत् प्रोटोन से विस्फोटित किया गया जिससे वह प्रोटोन पारे में घुल-मिल गया और उसका भार २०१ अंश हो गया। तब स्वतः उस लय अणु की मूल धूलि से एक अलफा बिन्दु निकल भागा, जिसका भार चार अंश था। परिणामतः पारे का भार २०१ अंश से १९७ अंश का हो गया। १९७ अंश भार का ही तो सोना होता है।

सन् १९५३ में प्लेटिनम् को सोने में परिवर्तन करने की तो नाना प्रयोग-शालाओं में सफलता मिल गई। कौनसा मौलिक द्रव्य किस मौलिक द्रव्य में कठिनता

से या सरलता से बदला जा सकता है, इस विषय के सारे प्रयोग वैज्ञानिक चाहे न भी कर पाए हों, पर विज्ञान के क्षेत्र में मूल द्रव्य के परिवर्तन की बात अब केवल कल्पना की उड़ान नहीं रह गई है।

द्रव्य की तीन अवस्थाएँ

प्रत्येक परमाणु धनात्मक और ऋणात्मक अणुओं से बना है। ऋणात्मक कण अपने पास आने वाले कणों को दूर फेंकते रहते हैं। इसके आधार से पदार्थ मात्र में फुलावट है। ठोस से ठोस पदार्थ में पदार्थ-मात्रा से अधिक शून्याकाश है। एक लम्बे-चौड़े हाथी के अणुओं को शून्यता-रहित कर एकीभूत किया जाए तो उस हाथी के शरीर का सारा द्रव्य मिल कर इतना सूक्ष्म हो जायेगा कि वह सूई के छिद्र से आसानी से निकल सकेगा। इसी शून्यता के तारतम्य से पदार्थ की तीन अवस्थाएँ बन जाती हैं; ठोस, तरल, और वाष्पीय। इस शून्यता का मूल हेतु यही है कि ऋणात्मक बिजली चीजों को फुलाकर रखती है; धनात्मक बिजली अपनी मर्यादा से अणुओं को निकट और दूर जाने देती है। हम ऐसा भी कह सकते हैं—प्रत्येक पदार्थ ठोस, तरल और वाष्पीय तीनों अवस्थाओं में रह सकता है। पर यह निश्चित है, द्रव्य उक्त तीनों अवस्थाओं में से किसी में रहे; उसके भीतर के अणु सर्वदा गतिमान हैं। वाष्पीय पदार्थों में यह गति यहाँ तक बढ़ जाती है कि वहाँ अणुओं की उछल-कूद और धक्काधक्की के सिवाय और कुछ लगता ही नहीं। यह जाना गया है कि गैस के अणु एक सैकिण्ड में ६ अरब बार दूसरे अणुओं से टक्कर ले लेता है जब कि उनके बीच की दूरी एक इंच का तीस लाखवां हिस्सा है।

द्रव्य और शक्ति (Matter and Energy)

द्रव्य की तरह विज्ञान के क्षेत्र में शक्ति का एक स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है। किन्तु आइन्स्टीन ने यह स्पष्ट कर दिया कि शक्ति (Energy) और द्रव्य (Matter) एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। द्रव्य शक्ति में और शक्ति द्रव्य में परिवर्तित हो सकती है। विज्ञान के क्षेत्र में आइन्स्टीन का यह एक क्रान्तिकारी निर्णय रहा है। शक्ति के स्थूल रूप उष्णता, चुम्बक, विद्युत् एवं प्रकाश हैं।

ताप (Heat)

परमाणु में धनाणु और ऋणाणु, अणु में स्वयं परमाणु और अणुगुच्छकों में अणु निरन्तर गतिशील हैं। यही आन्तरिक गति जब बहुत बढ़ जाती है और सूक्ष्मकण परस्पर एक दूसरे से टक्कर लेते हुए इधर-उधर दौड़ते हैं तो वे ताप के रूप में दीखने लगते हैं। आधुनिक विज्ञान ने हर एक पदार्थ के हिमाल बिन्दु (Freezing Point)

और उबाल विन्दु (Boiling Point) आदि का समुचित पता लगा लिया है। लोहा, शीशा आदि १५००° पर तरल मिलेंगे और इससे पूर्व ठोस।

प्रकाश (Light)

प्रकाश निरन्तर गतिशील है। प्रकाश मात्र चाहे वह दीपक का हो या सूर्य का १८६००० मील की गति से अपने केन्द्र के चारों ओर वढ़ता रहता है। वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड में घूमने वाले आकाशीय पिण्डों की गति, दूरी आदि को मापने के लिए प्रकाश किरण को ही अपना मान-दण्ड मान रक्खा है, क्योंकि उसकी गति सदा समान है। प्रकाश में पहले भार नहीं माना गया था किन्तु अव यह सिद्ध हो चुका है कि वह एक शक्ति का भेद होते हुए भी भारवान् है। वैज्ञानिकों ने यह भी पता लगाया है—प्रकाश, विद्युत् चुम्बकीय तत्त्व हैं और वह एक वर्ग मील क्षेत्र पर प्रति मिनट आधी छटाँक मात्रा में सूर्य से गिरता है।

विद्युत्

विद्युत् के दो रूप हैं—धन और ऋण। धन का आधार प्रोटोन और ऋण का आधार एलेक्ट्रोन है। इस आधार से विश्व का प्रत्येक पदार्थ विद्युन्मय है। आकाश की विजली वादलों के टकराने से पैदा होती है, पर वह भी कोई इस विद्युत् से भिन्न नहीं। वैज्ञानिकों ने विद्युत् प्रकटन के अनगिन रास्ते निकाल दिए हैं और आज यह मनुष्य के जीवन व्यवहार का आवश्यक अंग वन गई है।

परमाणु वम और उद्जन वम

परमाणु वम और उद्जन वम भी पौद्गलिक शक्तियों के विचित्र परिणाम हैं। पहले यह माना गया कि परमाणु टूटता नही पर धीरे-धीरे यह माना जाने लगा, वह टूट तो सकता है। क्योंकि उस समय रेडियो-क्रिया वाले तत्त्वों का पता लग चुका था जो कि अपने आप अपना मौलिक परिवर्तन करते रहते हैं। धीरे-धीरे यह पता चला कि परमाणु के वीजाणुओं की इकाई में अपार शक्ति भरी पड़ी है। तव से वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर लगा और परिणामस्वरूप परमाणु वम का आविष्कार हुआ। अव तक वनाए गए परमाणु वमों में केवल यूरेनियम् के परमाणुओं का विदीरण किया गया है। यूरेनियम् स्वयं रेडियो क्रिया तत्त्व है, इसलिए अन्य परमाणुओं की अपेक्षा इसका विदीरण सहज हुआ है। इसमें भी द्रव्य मात्रा के न्यूनाधिक से मुख्य दो भेद होते हैं; U.२३५, U.२३८। इन दोनों भेदों में U.२३५ ही महंगा तथा दुर्लभ है और यही परमाणु वम का उपादान सिद्ध हुआ।

उद्जन वम की गति उल्टी है। परमाणु वम जहाँ विभाजन का परिणाम है,

उद्जन बम संयोग का। इसमें हाइड्रोजन के परमाणु को हेलियम् के परमाणु में बदला जाता है। हाइड्रोजन पहला मौलिक तत्त्व है और हेलियम् दूसरा। हाइड्रोजन के एक परमाणु का तोल १.००८ होता है। अतः चार परमाणुओं का तोल ४.०३२ हुआ। किन्तु हेलियम् परमाणु का तोल लगभग ४ ही रह जाता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि हाइड्रोजन परमाणु से हेलियम् परमाणु बनने में .०३२ अर्थात् १.३० भाग शक्ति के रूप में बदल जाता है। उस शक्ति को ताप (Heat) के रूप में लें तो समझना चाहिए एक हाइड्रोजन के परमाणु से एक हीलियम् के परमाणु बनने में २७०० मन कोयले के जलने से जो ताप उत्पन्न होता है उसका ताप भी उसके बराबर होगा। इसी ताप शक्ति का समुदाईकरण हाइड्रोजन बम है।

इस शक्ति के बारे में परमाणु-विभाजन के पहले भी पता लग चुका था। पर हाइड्रोजन के चार परमाणुओं को मिला कर हेलियम् का परमाणु बनाने के लिए लाखों लाख अंश तापक्रम की आवश्यकता होती थी, और वैज्ञानिक[1] अपनी प्रयोगशाला में एक लाख डिग्री से भी बहुत कम तापक्रम उत्पन्न करने में समर्थ हुए। किन्तु जब एटम बम का विस्फोट होता है तो तापक्रम २ करोड़ डिग्री से भी अधिक उत्पन्न हो जाता है और उस तापक्रम पर हाइड्रोजन का हेलियम् के रूप में परिवर्तित होना सम्भव हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ हाइड्रोजन बम के विस्फोट में एटम बम दियासलाई का काम करता है। सच ही है एक बुराई अपने से बड़ी बुराई को जन्म देती है। परमाणु बम नहीं बना होता तो हाइड्रोजन बम की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं था। किन्तु हमें तो यहाँ केवल पुद्गल के पूर्ण और गलन् धर्म का वैचित्र्य देखना है।

---

1. The highest temperatures which could at that time be achieved in the laboratory were much less than 100,000 degrees centigrade, while for thermonuclear reactions a temperature of the order of millions of degrees is necessary. The situation changed, however, after the development of the atom bomb based on fusion. At the instant of the explosion the temperature reaches several million degrees, and although this lasts only an extremely short time it may be sufficient to initiate a fusion reaction. By its very nature such a reaction could only be utilized as an explosive, and such an arrangement is known as the hydrogen bomb.

—*Atoms and the Universe, p. 107.*

समन्वय और समीक्षा

पिछले प्रकरणों में दर्शन और विज्ञान के प्रामाणिक उद्धरणों के साथ परमाणुवाद का सुविस्तृत विवेचन किया गया। सर्वसाधारण के लिए दोनों पक्षों के सारांश को हृदयगंम कर उसे समीक्षापूर्ण दृष्टि से देख लेना सहज नहीं होगा, इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में दर्शन और विज्ञान के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को संक्षेप में समीक्षात्मक दृष्टि से रखा जा रहा है।

परमाणु की परिभाषा करते हुए भगवान श्री महावीर ने बताया—परमाणु[1] पुद्गल अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य व अग्राह्य है। किसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका भाग नहीं हो सकता। वज्रपटल से भी उसका भाग या विभाग नहीं हो सकता। किसी तीक्ष्णाति-तीक्ष्ण शस्त्र से भी उसका क्रमण या भाग नहीं हो सकता। वह तलवार की धार या इससे भी तीक्ष्ण शस्त्र की धार पर रह सकता है। तलवार या क्षुरकी तीक्ष्ण धार पर रहे हुए परमाणु-पुद्गल का छेदन-भेदन नहीं हो सकता। वह अग्निकाय में प्रवेश कर जलता नहीं है। पुष्करसंवर्त महामेघ में प्रवेश कर आर्द्र नहीं होता है। गंगा महानदी के प्रतिश्रोत में शीघ्रता से प्रवेश कर नष्ट नहीं होता है। उदकावर्त या उदकविन्दु में आश्रय लेकर विलुप्त नहीं होता है। परमाणु[2] पुद्गल अनर्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है। सार्ध नहीं है, समध्य नहीं है, सप्रदेशी नहीं है। परमाणु के न लम्बाई है, न चौड़ाई है, न गहराई है। यदि वह है तो इकाई रूप है।

डेमोक्रेटस कहता है—'परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी हैं। वे पूर्ण हैं और ताजे (नये) हैं, जैसे कि संसार की आदि में थे।' पर डेमोक्रेट्स का तथाकथित अच्छेद्य और अभेद्य परमाणु आज टूट गया है। जैन दर्शन का परमाणु अखण्ड था, है और रहेगा। जैन शास्त्रों के अनुसार वह इन्द्रियग्राही व प्रयोग का विषय हो ही नहीं सकता। उसकी सूक्ष्मता के विषय में जैसा कि बताया गया है—'परमाणु में मनुष्य कृत कोई क्रिया और गति नहीं हो सकती। मनुष्य तो केवल अनन्त प्रदेशी सूक्ष्म

---

१. भगवती श.क ५ उद्देश्य ७।

२. परमाणु पोग्गलेणं भन्ते ! किं सअड्ढे, समज्झे, सपएसे, उदाहु, अणड्ढे, अमज्झे, अपएसे ? गोयमा ! अणड्ढे, अमज्झे अपएसे, नो सअड्ढे, नो समज्झे, नो सपएसे। —भगवती शतक ५ उद्देश ७।

स्कन्धों तक ही प्रभावित कर सकता है।' सारांश यह हुआ—वैज्ञानिक जिस परमाणु के पीछे पड़े थे, जैन दर्शन के अनुसार वह अनेक परमाणुओं से संघटित कोई स्कन्ध ही था। और अब तो यह प्रयोगशालाओं में सुस्पष्ट हो ही चुका है कि जिस परमाणु को अच्छेद्य, अभेद्य और सूक्ष्मतम माना था वह वैसा नहीं है। उसमें पहले एलेक्ट्रोन और प्रोटोन का पता चला। फिर ज्यों-ज्यों इस विषय में विकास हुआ प्रोटोन भी एक शाश्वतिक इकाई नहीं रहा, उसमें भी न्यूट्रोन और पोजीट्रोन समझौते पूर्वक इकाई बना कर बैठे थे। इलेक्ट्रोन उपलब्ध अणुओं में सबसे छोटा है। पर लगता है वैज्ञानिक इसे भी परम+अणु=सबसे छोटा अणु कहने का साहस नहीं करेंगे। यदि करेंगे तो सम्भव है वह भी सुदूर भविष्य में मिथ्या प्रमाणित हो जाये। जैन-दर्शन की परिभाषा से तो एलेक्ट्रोन परमाणु है ही नहीं। क्योंकि वह मनुष्य कृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित होता ही रहता है। यह तो वैज्ञानिकों के बायें हाथ का खेल बनता जा रहा है कि एलेक्ट्रोनों को कहीं से हटा देना और कहीं लगा देना। न्यूट्रोनों को घटा बढ़ा कर ९२ मौलिक तत्त्वों की तरह समस्थानीय दूसरे मौलिक तत्त्व बनाये जाने लगे हैं। नाभिकण को तोड़ना न्यूट्रोन का काम है। वह कभी नाभिकण को तोड़कर निकल जाता है और कभी-कभी स्वयं नाभिकण इस आक्रमणकारी को पकड़ कर अपने पास रख लेता है। यदि यूरेनियम् का नाभिकण न्यूट्रोन को पकड़ लेता है तो उसकी भूत मात्रा २३८ के स्थान पर २३९ हो जाती है। इसी प्रक्रिया से वैज्ञानिकों ने यूरेनियम् से आगे नेप्तूनियम् नामक ९३वाँ रसायनिक तत्त्व और बना लिया है।

परमाणु के उदरस्थ जितने ही कण हैं, जैन-दर्शन की परिभाषा के अनुसार वे सूक्ष्मतम या परमाणु कहलाने के उपयुक्त नहीं हैं। उसके अनुसार आज तक के खोजे गये ये सूक्ष्मकण असंख्य व अनन्त प्रदेशात्मक स्कन्ध ही हैं। यह केवल एक कल्पना की बात है कि अब एलेक्ट्रोन आदि कणों मे टूटने का कोई अवकाश नहीं है। यह बात तो कल तक परमाणु को लेकर भी कही जाती थी कि बस यह अन्तिम कण है, इसमें टूटने का अवकाश नहीं है, किन्तु आज प्रकृति ने अपने रहस्य को मनुष्य के लिए थोड़ा खोल दिया है। इससे आगे वह मनुष्य के हाथों अपना रहस्य खोले या न खोले, पर अतीन्द्रिय प्रेक्षकों ने जिस परमाणु का दिग्दर्शन कराया है, वहाँ तक मनुष्य अपने इन्द्रिय सामर्थ्य से पहुँच सकेगा, यह सम्भव नहीं है।

स्कन्ध

मूर्त द्रव्यों की एक इकाई स्कन्ध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, दो से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओं का एकीभाव स्कन्ध है। किन्तु इसके साथ इतना और जोड़ना होगा कि विभिन्न परमाणुओं का एक होना जैसे स्कन्ध है, वैसे विविध

स्कन्धों का एक होना व एक स्कन्ध का एक से अधिक परमाणुओं की इकाई में टूटने का परिणाम भी एक स्वतन्त्र स्कन्ध है।

आधुनिक विज्ञान में भी स्कन्ध (Molecule) की गहरी चर्चा है, वहाँ बताया गया है—पदार्थ स्कन्धों से बने हुए हैं। वे स्कन्ध गैस आदि पदार्थों में तो बहुत तीव्र गति से सब दिशाओं में गति करते हैं। सिद्धान्ततः, स्कन्ध यह है कि एक चाक का टुकड़ा, जिसके दो टुकड़े किए जाएँ और दो के फिर चार इसी क्रम से असंख्य (Infinite) तक करते जाएँ; जब तक कि वह चाक चाक के रूप में रहे और उसका वह सूक्ष्मतम विभाग स्कन्ध कहलायेगा। स्थिति यह है, किसी भी पदार्थ के हम टुकड़े करते जायेंगे। एक रेखा ऐसी आयेगी जहाँ से वह पदार्थ अपनी मौलिकता खोए बिना नहीं टूट सकेगा। अतः उस पदार्थ का मूल रूप स्थिर रहते हुए जो उसका अन्तिम टुकड़ा है वह एक स्कन्ध है। जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान की स्कन्ध व्याख्या में कुछ समानता है तो कुछ भेद भी। जैन दर्शन में पदार्थ की एक इकाई को एक स्कन्ध माना गया है, जैसे—घड़ा, चटाई, मेज, कलम, पुस्तक आदि। घड़े के यदि दो टुकड़े हो गये तो दो स्कन्ध, और सौ टुकड़े हो गये तो सौ स्कन्ध हैं। चाक के दो टुकड़े किये गये तो दो स्कन्ध, सहस्र टुकड़े किये गये तो सहस्र स्कन्ध। यदि उसको पीसकर चूर्ण कर लिया तो एक एक अणु (कण) एक-एक स्कन्ध है। आधुनिक विज्ञान में चाक का वह अणु ही केवल स्कन्ध है जिसे यदि फिर तोड़ा जाये तो वह अपने चाकपन को खोकर किसी अन्य पदार्थ जाति में परिणत हो जायेगा। जैन दृष्टि से चाक का वह अन्तिम अणु स्कन्ध है ही किन्तु पदार्थ स्वरूप के बदलने की अपेक्षा न रखते हुए जब तक वह तोड़ा जा सकता है अर्थात् जब तक एक परमाणु के रूप में नहीं पहुँच जाता तब तक वह स्कन्ध है, और उसके सहधर्मी जितने टुकड़े हैं, वे सब स्कन्ध हैं।

स्कन्ध-निर्माण

परमाणुओं से स्कन्ध और स्कन्धों से वस्तु-निर्माण कैसे होता है, इसका संक्षिप्त फारमूला जैन-दर्शनकारों ने बताया है—अनेक परमाणु परस्पर मिल कर एक इकाई बनते हैं उसका हेतु उन परमाणुओं का स्निग्धत्व व रूक्षत्व स्वभाव है। रूक्ष परमाणु रूक्ष के साथ और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ तीन से लेकर यावत् अनन्त गुणांशोंकी तरतमता से बन्धन प्राप्त होते हैं। स्निग्ध और रूक्ष परमाणु तो बिना किसी शर्त के बन्ध जाते हैं। एक गुण रूक्ष और एक गुण स्निध परमाणु कभी बन्धन को प्राप्त नहीं होते।' जैन-दर्शनकारों ने जैसे स्निग्धत्व और रूक्षत्व को बन्धन का कारण माना, वैज्ञानिकों ने पदार्थ के धन विद्युत् (Positive Charge) और ऋण विद्युत् (Negative Charge) इन दो स्वभावों को बन्धन का कारण माना। जैन दर्शन के

अनुसार स्निग्धत्व और रूक्षत्व परमाणु मात्र में मिलता है, और आधुनिक पदार्थ विज्ञान के अनुसार धन विद्युत् और ऋण विद्युत् पदार्थ मात्र में मिलती है। लगता तो यह है कि जैन दार्शनिकों एवं आधुनिक वैज्ञानिकों ने शब्दभेद से एक ही बात कह डाली है। उन्होंने रूक्षत्व और स्निग्धत्व के नाम से और वैज्ञानिकों ने धन विद्युत् और ऋण विद्युत् के नाम से पदार्थ के दो धर्मों को अभिहित किया है। सर्वार्थ सिद्धि अध्याय ५ सूत्र ३४ में विद्युत् के विषय में बताया गया है—"स्निग्ध रूक्ष गुण निमित्तो विद्युत्" अर्थात् आकाश में चमकने वाली विद्युत् परमणुओं के स्निग्ध और रूक्ष गुणों का परिणाम है। इससे स्पष्ट होता है स्निग्धत्व और रूक्षत्व इन दो गुणों से धन (Positive) और ऋण (Negative) बिजलियाँ पैदा होती हैं। इसलिए लगभग एक ही बात हो जाती है—यदि हम कहें रूक्षत्व और स्निग्धत्व आणविक बन्धनों के कारण हैं या धन और ऋण दो प्रकार के विद्युत् स्वभाव। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान के बन्धन प्रकारों का जब हम अध्ययन करते हैं तो वहाँ भी जैन दर्शन को चरितार्थ करने वाले बहुत से उदाहरण मिलते हैं। वैज्ञानिक जगत् में भारी ऋणाणु (Heavy Electrons) की भी भविष्य वाणी है। वह साधारण ऋणाणुओं से पच्चास गुना अधिक भारी होता है[1] और केवल ऋणाणुओं के ही समुदाय का परिणाम होता है इसलिए उसे नेगेट्रोन (Negatrons) कहा गया है। क्योंकि उसमें केवल निषेध विद्युत् ही तो है। इस प्रकार के अणु जब पूर्ण रूप से प्रकट हो जायेंगे तो क्या वे रूक्ष के साथ रूक्ष का बन्धन चरितार्थ नहीं कर देंगे? इसी प्रकार प्रोटोन स्निग्ध के साथ स्निग्ध का उदाहरण बन जाते हैं, और न्यूट्रोन स्निग्ध और रूक्ष बन्धन का। आधुनिक परमाणु का बीजाणु भी स्निग्ध और रूक्ष बन्धन का उदाहरण बनता है, क्योंकि वह ऋणाणुओं और धनाणुओं का समुदय मात्र है। डाक्टर बी० एल० शील ने लन्दन से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Positive Science of Ancient Hindus' में स्पष्ट लिखा है कि जैन-दर्शनकार इस बात को भली भाँति जानते थे कि पोजेटिव और निगेटिव विद्युत् कणों के मिलने से विद्युत् की उत्पत्ति होती है।

गति साधर्म्य

जैन शास्त्रों में परमाणु की गति के सम्बन्ध में बताया गया है—"परमाणु कम से कम एक समय में एक आकाश प्रदेश का अवगाहन कर सकता है और अधिक से अधिक उसी समय में चतुर्दश रज्ज्वात्मक सारे विश्व का।" कम से कम (Minimum) और अधिक से अधिक (Maximum) दो गतियों का निरूपण कर देने से अपने आप

1. Science and Culture, November 1937.

स्पष्ट हो ही गया कि इस बीच की वह सारी गतियाँ यथाप्रसंग करता रहता है। आधुनिक विज्ञान ने भी अणु-परमाणु की ऐसी गतियाँ पकड़ ली हैं, जिनके बारे में साधारण मनुष्य कल्पना तक नहीं कर सकता।

हर एक एलोक्ट्रोन अपनी कक्षा पर प्रति सेकिण्ड १३०० मील की रफ्तार से गति करता है।

गैस व तथा प्रकार के पदार्थों में अणुओं का कम्पन इतना शीघ्र है कि प्रति सैकिण्ड ६ अरब वार परस्पर टकरा जाते हैं; जब कि दो अणुओं के बीच का स्थान एक इञ्च का तीस लाखवाँ हिस्सा है।

प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १,८६००० मील है।

हीरे आदि ठोस पदार्थों में अणुओं (Molecules) की गति प्रति घण्टा ९६० मील है।

अणु-परमाणु के गति सम्बन्धी विचारों में जैनदर्शन व आधुनिक विज्ञान में जहाँ साधर्म्य है वहाँ कुछ वैधर्म्य भी। आधुनिक पदार्थ विज्ञान के अनुसार एलेक्ट्रोन सबसे छोटा कण है और उसकी गति गोलाकार में है। जैन दर्शन के अनुसार परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा में है और वैभाविक गति वक्र रेखा में।

परमाणुओं का समासीकरण

जैन दर्शन बताता है, थोड़े से परमाणु एक विस्तृत आकाश खण्ड को घेर लेते हैं और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश देश में समा जाते हैं। इस समासीकरण और व्यायतीकरण का मुख्य कारण यह है—एक परमाणु अपने ही सदृश एक आकाश प्रदेश में पूरा समा जाता है और अपनी सूक्ष्म परिणाम-वगाहन शक्ति से उसी आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु निर्विरोध एक साथ ठहर जाते हैं।

पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की पहुँच इस पराकाष्ठा तक तो नहीं हुई है, किन्तु आये दिन ऐसे निविड़ पदार्थों का पता चल रहा है, जो परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति के विषय में जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। साधारणतया इस पृथ्वी पर सोना, पारा, शीशा व प्लेटिनम् आदि भारी पदार्थ माने जाते हैं। एक स्क्वायर इंच काठ के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े में भार का कितना अन्तर है, यह स्पष्ट है। इसका एक मात्र कारण परमाणुओं की निविड़ता है। जितने आकाश खण्ड को काष्ठ के थोड़े से परमाणुओं ने घेर लिया उतने ही आकाश खण्ड में अधिकाधिक परमाणु एकत्रित होकर खनिज पदार्थ के रूप में रह जाते हैं। इस आकाश में ऐसे भी ग्रह पिण्ड देखे गये हैं, जो प्लेटिनम,

से भी दो हजार गुना सघन हैं। ऐसे ग्रह पिण्डों की सघनता का वर्णन एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक इन शब्दों में करते हैं—"इन आकाशीय पिण्डों में से कुछ एक में पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इन्च टुकड़े में २७ मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो हाल ही में खोजा गया है, उसके एक क्यूबिक इन्च में १६७४० मन वजन होता है।[1]" क्या कभी कोई कल्पना भी कर सकता है कि एक क्यूबिक इंच टुकड़े को उठाने में बड़े से बड़े क्रेन भी असफल रह जायेंगे ? क्या कोई कल्पना कर सकता है कि एक छोटा-सा ढेला ऊपर से गिर कर बड़े-से-बड़े भवन को भी तोड़ सकता है ?

कहा जाता है कि ज्येष्ठा तारा इतना भारी है कि अंगूठी के एक नग जितने टुकड़े में आठ मन वजन होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार छोटे-से-छोटे एक बालुकण में अनन्त परमाणुओं का समवाय है। वह एक स्कन्ध कहलाता है। छोटे-से-छोटा स्कन्ध द्विप्रदेशात्मक अर्थात् दो परमाणुओं का भी हो सकता है। नेत्र दृश्य जितने भी लघु व बृहद् पदार्थ हैं, वे सब अनन्त प्रदेशात्मक ही हैं। स्कन्ध के भेद से भी स्कन्ध बनते जायेंगे। एक परमाणु तो कभी किसी परमाणु से अलग किया ही नहीं जा सकता। तात्पर्य यह हुआ, किसी भी एक स्कन्ध को यदि हम तोड़ते जायें तो वह एक स्कन्ध असंख्य स्कन्धों में बँट जायेगा। विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसी चर्चाओं का बाहुल्य है। प्रोफेसर अन्ड्रेड (Andrade) ने अनुमान बांधा है—'एक औंस पानी में इतने स्कन्ध हैं कि संसार के समस्त स्त्री, पुरुष और बच्चे इन्हें गिनने लगें और प्रति सैकिण्ड ५ की रफ्तार से दिन और रात गिनते ही चले जायें तो उनका वह कार्य चालीस लाख वर्षों में पूरा होगा[2]।"

जैन दर्शन के अनुसार हवा भी एक रूपी पदार्थ है। एक रोम कूप में समा

---

1. In some of these bodies (small stars) the matter has become so densely packed that a cubic inch weighs a ton. The smallest known star discovered recently is so dense that a cubic inch of its material weighs 620 tons. Ruby Fa Bois F. R. A.

—*"Arm Chair Science." London, July, 1937.*

2. If every man, woman and child in the world were turned to counting them and counted fast, say five a second, day and night it would take about 4 million (4,000,000) years to complete the Job.
—*The Mechanism of Nature by E. N. Dsc. Andrade, D. Sc. Ph. D., p 37.*

जाने वाली हवा में भी असंख्य शरीर-स्कन्ध हैं। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि एक इंच लम्बी, एक इंच चौड़ी, एक इंच मोटी डिबिया में समा जाने वाली हवा में ४४२४०००००००००००००००० स्कन्ध हैं। इस प्रकार पुद्गल व पदार्थ की सूक्ष्मता व निविड़ता के दोनों ही पक्षों में और भी अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

परमाणु और व्यवहार परमाणु

जैन शास्त्रकारों ने परमाणु के दो भेद बतलाये—परमाणु और व्यवहार परमाणु। अविभाज्य और सूक्ष्मतम अणु परमाणु है और सूक्ष्म स्कन्ध जो इन्द्रिय व्यवहार में सूक्ष्मतम से लगते हैं, वे व्यवहार परमाणु हैं। विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे दो भेद स्वयं उद्भुत हो गये हैं। जिसे परमाणु माना गया था उसे अब परम+अणु सूक्ष्मतम नहीं कहना चाहिये। पर व्यवहार में उस अणु की पहिचान परमाणु शब्द से ही होती है। वास्तव में तो वह व्यवहार परमाणु ठहरा। जैन दर्शन की दृष्टि से एलेक्ट्रोन आदि अन्य कण भी व्यवहार परमाणु की कोटि में हैं, जैसा कि बताया जा चुका है।

प्रकार

पुद्गल के प्रकार जैन दार्शनिकों ने इस प्रकार बताये—

(१) अति स्थूल—भूमि, पर्वतादिक।

(२) स्थूल—घृत, जल, तैल आदि।

(३) स्थूल सूक्ष्म—छाया, आतप आदि।

(४) सूक्ष्म स्थूल—वायु व अन्य प्रकार की गैसें।

(५) सूक्ष्म—भाषा, मन, व काय की वर्गणा।

(६) अति सूक्ष्म—द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, आदि स्कन्ध।

विज्ञान के क्षेत्र में पदार्थ को तीन भेदों में बाँटा गया है। ठोस (Solid), तरल (Liquid) और वाष्प (Gas)। ये तीनों भेद पूर्वोक्त भेदों में प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ में समा जाते हैं। दार्शनिकों की दृष्टि में इन भेदों के अतिरिक्त और भी पदार्थ थे, इसलिये उन्होंने छव भेद किये। परमाणु विभेद के पश्चात् जो विभिन्न प्रकार के पदार्थ कण सामने आये तो वैज्ञानिकों के तीन भेद भी अब केवल कहने भर को रह गये हैं। दार्शनिकों ने विभिन्न अपेक्षाओं से प्रयोग परिणत, मिश्र परिणत व विस्रसा परिणत आदि अनेकों भेदों में पुद्गल को बाँटा है।

शब्द-विचार

जैन शास्त्रों ने पुद्गल के ध्वनि रूप परिणाम को शब्द कहा है। वह ध्वनि रूप परिणाम कैसे बनता है, इसकी थोड़ी सी चर्चा पंचास्तिकाय सार में मिलती है।

वहाँ बताया गया है[1]—'परमाणु स्वयं अशब्द है। शब्द तो नाना स्कन्धों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। इसलिये वह स्कन्धप्रभव है।' शास्त्रकारों ने यह भी माना—तीव्र प्रयत्न से प्रेरित शब्द-प्रवाह विश्व के अन्त भाग तक पहुँच जाता है। कुछ लोग कहते हैं—रेडियो आदि यन्त्र आने से जैन शास्त्रों के उक्त कथन की पुष्टि हो गई पर यह कथन इतना सरल नहीं है। क्योंकि वैज्ञानिकों ने शब्द को पदार्थ या अणुओं के रूप में नहीं माना है। शब्द के विषय में उनकी धारणा है—"यह एक सामान्य अनुभव है कि ध्वनि का उद्गम कम्पन की स्थिति में है, उदाहरणार्थ—शंकु का काँटा (स्वर मापक यंत्र), घण्टी, प्योनो की रस्सी, ओरगन पाइप की हवा ये सब चीजें कमान की अवस्था में होती हैं, जब कि वे ध्वनि पैदा करती हैं[2]।"

विज्ञान के अनुसार ध्वनि भी एक शक्ति का ही स्वरूप है। उसका स्वरूप तरंगात्मक है। माइक्रोफोन, रेडियो आदि यन्त्रों में शब्द तरंगे विद्युत्-प्रवाह में परिवर्तित होकर आगे बढ़ती हैं और लक्ष्य पर पुनः वह विद्युत्-प्रवाह शब्द तरंगों के रूप में परिणत हो जाता है। शब्द की गति विज्ञान के अनुसार प्रति घण्टा ११०० मील ही है। पर वह विद्युत्-प्रवाह में प्रवाहित होकर रेडियो आदि यन्त्रों के आधार से विद्युत् गति से आगे बढ़ जाता है। जैन दार्शनिकों ने कहा—शब्द पौद्गलिक है और वह लोकान्त तक पहुँचता है। वैज्ञानिक मानते हैं—शब्द पुद्गल (Matter) न होकर शक्ति (Energy) है और वह प्रति घण्टा ११०० मील की गति से ही आगे बढ़ता है। जैन दर्शन और विज्ञान की मान्यता में इस विषय को लेकर यह स्पष्ट अन्तर है। इसलिये जो यह कहा जाता है कि रेडियो आदि यन्त्रों के आने से जैन दर्शन का शब्द विषयक संविधान पुष्ट होता है; एकदम सरल नहीं है। किन्तु अन्ततोगत्वा उक्त कथन निराधार भी नहीं है, क्योंकि पदार्थ और शक्ति में जो द्वैध था वह अब नये विज्ञान में

---

१. आदेश मात्रमूर्तः धातु चतुष्कस्य कारणं यस्तु।
स ज्ञेयः परमाणुः परिणामगुणः स्वयमशब्दः ॥८५॥
शब्दः स्कन्धप्रभवः स्कन्धः परमाणुसंघ-संघातः।
स्पृष्टेषु तेषु जायते शब्द उत्पाद को नियतः ॥८६॥

2. It is a common experience that a source of sound is in a state of vibration. For example the prong of a tuning fork, a bell, the strings of a piano and the air in an organ pipe are all in a state of vibration when they are producing sound.

—*Text Book of Physics by R.S. Willows p. 249.*

मिलता जा रहा है। यह बात केवल शब्द के विषय को लेकर ही नहीं है किन्तु शक्ति के अन्यान्य रूपों में भी अब शक्ति व पदार्थ का तादात्म्य स्पष्ट होता जा रहा है। जैन दार्शनिकों ने छाया, आतप व प्रकाश आदि को भी पौद्गलिक बताया। किन्तु विज्ञान ने इन सबको शक्ति के ही रूप में स्वीकार किया था। जैन दर्शन का कथन था—पुद्गल से परे शक्ति नाम की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। विज्ञान के शब्दों में जिन पदार्थों को हम शक्ति के नाम से पहचानते हैं, वे पुद्गल के ही सूक्ष्म रूप हैं। प्रसन्नता की बात तो यह है कि विज्ञान भी अब उसी अभिमत को लेकर चलता है।

क्या शक्ति में भी तोल है? इस प्रश्न का उत्तर गेलेलियो और न्यूटन की भाषा में पूर्ण निषेधात्मक ही था। लेकिन आईंस्टीन का सापेक्षवाद बताता है—शक्ति भार रहित तत्व नहीं है, क्योंकि उसमें भी निश्चित मर्यादा से पदार्थत्व (Mass) है। एक हजार टन पानी को वाष्प में परिणत करने के लिये जितने ताप (Heat) की आवश्यकता है, वह ग्राम १।३० से भी कम होगा। सरलता के लिए ऐसा भी कहा जा सकता है—तीन हजार टन पत्थर के कोयले को जलाने से जितना ताप उत्पन्न होगा, उसका वजन लगभग एक माशे के बराबर होगा। शक्ति को पदार्थ न मानने का केवल यही कारण था कि वह अत्यन्त अल्प भार वाली है। इसीलिये ही अब तक इसे भार शून्य प्रवाह माना जाता था।

रेडियेशन भी एक शक्ति है जो सूर्य से प्रवाहित होती है। प्रोफेसर मैक्सबोर्न ने बताया है—सूर्य रेडियेशन के शक्ति प्रवाह से प्रति वर्ष १ खरब ३८ अरब टन पदार्थ (Mass) खोता है[1]। उसी प्रकरण में आगे वे कहते हैं—शक्ति और पदार्थ (Mass) एक वस्तु विशेष के दो पृथक् नाम हैं[2]। तात्पर्य यह हुआ जैन दर्शन के अनुसार शक्ति नामक कोई पदार्थ पुद्गल से पृथक् नहीं है, यह बात विज्ञान ने सवा सोलह आने स्वीकार कर ली है। अब तो वैज्ञानिकों ने शक्ति के भार को आंकने के लिये गणितिक सूत्र[3] भी बना लिये हैं। उक्त विवेचन के पश्चात् हम सहज ही इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि रेडियो, ग्रामोफोन, लाउडस्पीकर आदि यन्त्रों ने जैन दर्शन के शब्द सम्बन्धी संविधान को चरितार्थ कर दिया है। ध्वनि शक्ति रूप है तो भी वह

---

1. The sun loses in one year 1,38,00,00,00,000 by it's radiations.
—*Restless Universe.*

2. Energy and mass are just different names for the same thing.

३. २० mc २ अर्थात् ९ × १० m इतने एक अर्ग एनर्जी का तोल एक ग्राम होता है।

पदार्थ से परे नहीं। शब्द तरंगों का विद्युत् प्रवाह के रूप में परिणत करना उन्हें आगे बढ़ाने का तीव्र प्रयत्न है और यही तो जैन शास्त्रों ने कहा था—तीव्र प्रयत्न को प्राप्त होकर शब्द लोकान्त तक पहुँच जाता है।

प्रतिच्छाया और टेलीविजन

जैन शास्त्रों में छाया का वर्णन करते हुए बताया गया है—विश्व के किसी भी मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती रहती है और वह पदार्थ के चारों ओर आगे बढ़ कर सारे विश्व में फैलती है। जहाँ उसे प्रभावित करने वाले पदार्थों का संयोग होता है वहाँ वह प्रभावित होती है। प्रभावित करने वाले पदार्थ जैसे—दर्पण, तैल, घृत, जल आदि। विज्ञान के क्षेत्र में जो टेलीविजन का आविष्कार हुआ है, लगता है वह इसी सिद्धान्त का उदाहरण है। वह एक देश में बोलने वाले व्यक्ति का चित्र समुद्रों पार दूसरे देश में व्यक्त करता है। हो सकता है, जैसे रेडियो यन्त्र गृहीत शब्दों को विद्युत् प्रवाह से आगे बढ़ा कर सहस्रों मील दूर ज्यों का त्यों प्रकट करता है उसी प्रकार टेलीविजन भी प्रसरणशील प्रतिच्छाया को ग्रहण कर उसे विशेष प्रयत्नों द्वारा प्रवाहित कर सहस्रों मील दूर ज्यों का त्यों व्यक्त करता है।

उत्पत्ति, विनाश और स्थिति

पदार्थ स्वभाव को व्यक्त करने के लिये 'उत्पत्ति, विनाश और स्थिति' का सिद्धान्त, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, जैन दर्शन के अनुसार मूलभूत आधार है। उसका सारांश है—पदार्थ में प्रतिक्षण नये आकार की उत्पत्ति है, प्राचीन का विनाश है और पदार्थत्व की निश्चलता है। आधुनिक विज्ञान भी इस सिद्धान्त में पूर्ण सहमत है। शक्ति और पदार्थ को एक ही तत्त्व मान लेने के पश्चात् यह बात और भी स्पष्ट हो गई है। पदार्थ शक्ति के रूप में बदलता है, पर शक्ति भी नष्ट न होकर किसी प्रकार विशेष में बदल जाती है। 'थीसिस और एनर्जी' नामक पुस्तक में उसके लेखक एल० ए० कोल्डिंग लिखते हैं—"शक्ति अविनाशी और शाश्वत है, इसलिए जहाँ कहीं और जब कभी भी वह नष्ट होती देखी जाती है, वहाँ वह नष्ट न होकर एक परिवर्तन लेती हुई दूसरे रूप में प्रकट हो जाती है। पर उस परिवर्तन में उसकी मात्रा ज्यों की त्यों स्थित रहती है[1]।" तात्पर्य यह हुआ कि स्कन्ध टूटकर पदार्थ परमाणु रूप

---

1. Energy is imperishable and immortal and therefore wherever and whenever energy seems to vanish in performing certain mechanical and other works, it merely undergoes a transformation and reappears in a new form but the total quantity of energy still abides.

में हो जाते हैं और परमाणु टूटकर एलेक्ट्रोन, प्रोटोन व शक्ति रूप में परिणत हो जाते हैं ; पर पदार्थ का आत्यन्तिक नाश कहीं नहीं है। पदार्थ शक्ति में जैसे बदलता है शक्ति भी पदार्थ में पुनः बदल जाती है। इसीलिए आधुनिक पदार्थ विज्ञान में 'पदार्थ की सुरक्षा का सिद्धान्त[1]' और 'शक्ति की सुरक्षा का सिद्धान्त[2]' ये दो विषय मूल-भूत पहलू बन गये हैं।

परिभाषा और लक्षण

दार्शनिकों ने पुद्गल की परिभाषा बताई—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवान् पुद्गल है। वर्ण चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य है, गन्ध घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य है। इसी प्रकार रस और स्पर्श क्रमशः रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। इसलिये हम ऐसा भी कह सकते हैं—जो इन्द्रिय ग्राह्य है वह पुद्गल है। पर पुद्गल इन्द्रिय ग्राह्य ही है ऐसी व्याप्ति नहीं बनती। क्योंकि वह अतीन्द्रिय भी है। कुछ भी हो दार्शनिकों की पुद्गल परिभाषा सर्वांगीण तथा समुचित है। वैज्ञानिकों ने पदार्थ की परिभाषा करते हुए बताया—जिसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई हो वह पदार्थ है। जैन परिभाषा की अपेक्षा से पदार्थ की यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल है। परमाणु तो सर्वथा इस परिभाषा से बाहर ही रह जाते हैं।

अणुशक्ति और तेजोलेश्या

अणु शक्ति के दो विशेष उदाहरण एटमबम और हाइड्रोजनबम का वर्णन किया जा चुका है। ये दोनों अणु अस्त्र 'पूरण गलन धर्मत्वात् पुद्गलः' इस व्याख्या को परिपुष्ट करने वाले हैं। पूरण अर्थात् संयोग—मिलन, गलन अर्थात् वियोग। हाइड्रोजनबम पूरण धर्म का उदाहरण है। क्योंकि हाइड्रोजन के चार परमाणुओं के संयोग से हेलियम् का एक परमाणु बनता है। उस संयोग से जो कुछ भाग शक्ति रूप में परिणत होता है, वह हाइड्रोजन बम है। एटम बम यूरेनियम् के परमाणु समूह के टूटने से बनता है, इसलिए वह गलन अर्थात् वियोग धर्म का उदाहरण है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान में भी उद्जनबम को फ्युजन बम कहा गया है, जिसका कि अर्थ है—मिलना और एटमबम को फीजन बम कहा गया है, जिसका कि अर्थ है पृथक् होना[3]।

अणु शक्ति की गरिमा को व्यक्त करनेवाला शास्त्रीय उदाहरण तेजोलेश्या का है। तेजोलेश्या पौद्गलिक है और वह विस्तृत भाव को प्राप्त होकर अंग, वंग,

---

1. Principle of Conservation of matter.
2. Principle of Conservation of Energy.
3. Atoms and the Universe. p. 160.

मगध, मलय, मालव जैसे १६ देशों[1] को एक साथ भस्म कर देती है। कोई तपस्वी साधु अपनी विशेष तपस्या से ही इसे प्राप्त कर सकता है। शास्त्रों में इसकी प्रक्रिया बतायी गई है 'जो व्यक्ति छह महीने तक बेले बेलेका तप करे, उर्ध्वबाहु रहकर हमेशा सूर्य की आतापना ले, और पारणे में एक मुटठी उड़द और एक चुल्लू गरम पानी ग्रहण करे वह तेजोलेश्या को प्राप्त होता है[2]।' वह निकेवल पौद्गलिक शक्ति है। इसका प्रमाण भी श्रमण कालोदायी और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर में मिलता है। श्रमण कालोदायी ने भगवान् महावीर से पूछा—हे भगवन्! जैसे सचित्त अग्निकाय प्रकाश करती है वैसे ही अचित्त अग्निकाय के पुद्गल प्रकाश करते हैं? उद्योग करते हैं? तपते हैं? भगवान महावीर ने कहा—हाँ कालोदायिन्! अचित्त पुद्गल भी प्रकाश व उद्योत करते हैं। अहो भगवन्! कौन से अचित्त पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं? अहो कालोदायिन्! क्रुद्ध अनगार से तेजोलेश्या निकल कर दूर गई हुई दूर गिरती है, पास गई हुई पास गिरती है। वह तेजोलेश्या जहाँ गिरती है, वहाँ वे उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं[3]।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजोलेश्या भी पुद्गलों की कोई रासायनिक प्रक्रियासी है। बेले बेले पारणा करना उर्ध्वबाहु होकर सूर्य की आतपना लेना, गर्म जल पीना व उड़द के बाकले खाना यह सारा ही क्रिया कलाप क्या तेजोलेश्या का एक रासायनिक फार्मूला सा उपस्थित नहीं कर देता है? अणु शक्ति के प्रकटन में बढ़ते हुए तापक्रम की आवश्यकता होती है। तेजोलेश्या का प्रकटन करनेवाले सारे के सारे कार्य भी शारीरिक उष्मा को उद्दीप्त करने वाले हैं। विशेषता की बात

---

१. सोलसण्ह जणवयाणं, तंजहा—अंगाणं, वंगाणं, मगहणं, मलगाणं, मालवगाणं, अच्छाणं, वच्छाणं, कोच्छाणं, पाढाणं, लाढाणं, वज्जीणं; मोलीणं, कासीणं, कोशलगाणं, अवाहाणं, संभुत्तराणं, घाताये, वहाये, उच्छादणठाए भासीकरणयाए। —भगवती शतक १५।

२. एगाए, सणहाए, कुम्मासा पिंडियाए, एगेण य वियडासएणं, छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खितेणं, तवोकम्मेणं, उड्ढं बाहाओ पगिज्भय पगिज्भय जाव विहरइ सेणं अन्तो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलस्से भवइ। —भगवती शतक १५।

३. अत्थि णं भन्ते! अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेंति तवेंति पभासेंति? हन्ता अत्थि। कयरेणं भन्ते, अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासेंति? कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसड्ढासमाणी दूरं गंता दूरं निपतइ, देसं गता देसं निपतइ जहिं जहिं च णं सा निपतइ, तहिं तहिं णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासेंति। —भगवती शतक ७ उ० १०।

यह है कि आधुनिक अणु-शक्ति तो केवल उष्मा के रूप में ही प्रकट होती है, पर तेजोलेश्या में उष्णता और शीतलता दोनों गुण विद्यमान हैं। शास्त्रों में तेजोलेश्या के उष्ण तेजोलेश्या और शीतल तेजोलेश्या दो भेद बताये गये हैं[1]। शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रभाव को तत्क्षण नष्ट कर सकती है[2]। शास्त्रों में उष्ण तेजोलेश्या प्राप्त करने का निर्देश मिलता है पर शीतल तेजोलेश्या किस अनुष्ठान से उत्पन्न होती है, यह वर्णन कहीं नहीं मिलता। वैज्ञानिक भी अब तक उष्ण तेजोलेश्या अणुबम और उद्‌जन बम का ही आविष्कार कर पाये हैं पर अणु अस्त्रों का प्रतिकारक अस्त्र उन्हें अभी तक कोई नहीं मिला है। अणुबम और तेजोलेश्या के उक्त वर्णन का तात्पर्य यह नहीं कि वे दोनों शक्तियाँ सर्वांशतः एक ही हैं, किन्तु दोनों के ही विधि विधानों में जो यत्किञ्चित् साम्य है, वह अवश्य अनेकानेक सुषुप्त जिज्ञासाओं को उभारने वाला है।

निष्कर्ष दृष्टि

जैन दर्शन ने अहिंसा, स्याद्वाद, कर्म, मुक्ति आदि अध्यात्मिक विषयों पर जिस प्रकार अपने अजोड़ विचार दिये; भौतिक पदार्थ विज्ञान के विषय में भी वह अजोड़ ही रहा। अन्यान्य दर्शनों की तो बात ही क्या आधुनिक विज्ञान भी अपने क्रमिक विकास से तत्सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं में इसका अनुसरण कर रहा है, यह बहुत प्रकार से स्पष्ट हो चुका है। बहुत सारे विज्ञाननिष्ठ विचारक इस विषय को इतने में ही टाल दिया करते हैं कि पुराने दार्शनिकों की परमाणु सम्बन्धी धारणा में और नवोदित विज्ञान की धारणा में कोई सामञ्जस्य नहीं है। दार्शनिकों के पास इस विषय का अल्पतम ज्ञान था। वही ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में विकसित होता हुआ आमूल ही बदल गया है। अतः दार्शनिकों का वह अल्पतम ज्ञान आज के युग में अपना अधिक महत्त्व नहीं रखता। सही स्थिति यह है कि प्राचीन अणु विज्ञान के अन्वेषण में ऐसे लोगों ने न तो समय लगाया है और न उन्होंने लगाना आवश्यक ही समझा है। वे तो सदा उसी बद्धमूल धारणा की परिक्रमा करते हैं कि प्राचीन काल में अणु-विज्ञान का जरा भी उदय नहीं था। इस दिशा में तटस्थ भावना से यदि पर्याप्त अन्वेषण हुआ तो उक्त बद्धमूल धारणा में एक मौलिक परिवर्तन निःसन्देह फलित होगा।

जैन दर्शन का परमाणुवाद निश्चल व समग्र निरूपण-सा लगता है। सहस्रों वर्ष पूर्व प्रतिपादित विषय आज भी नया-सा लगता है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान में आदि से लेकर अब तक नव नवोन्मेष होते रहे हैं। भविष्य में तथाप्रकार के नव उन्मेषों की सम्भावना और भी बढ़ती जा रही है। परमाणु और विश्व (Atom and

१. भगवती शतक १५।

२. भगवती शतक १५।

Universe) नामक एक पुस्तक सन् १९५६ में लंदन से प्रकाशित हुई है। जिस के लेखक पदार्थ विज्ञान के अधिकारी विद्वान् सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जी० ओ० जोन्स (G. O. Jones J.), जे० रोटब्लेट (J. Rotblat) और जी० जे० विटरो (G. J. Whitrow) परमाणु के अन्तर्गत मौलिक तत्त्वों की चर्चा करते हुए उस पुस्तक में पृष्ठ ४९ पर लिखते हैं। बहुत दिनों तक तीन ही तत्व (एलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन और प्रोट्रोन) विश्व संघटन के मूलभूत आधार माने जाते रहे। किन्तु वर्तमान में उनकी संख्या कमसे कम १६ तक पहुँच गई एवं तथा प्रकार के तत्त्वों का अस्तित्व और भी सम्भावित हो गया है।............मौलिक अणुओं का यह अप्रत्याशित बढ़ाव बहुत असन्तोष का विषय है और सहज ही यह प्रश्न उठता है कि मौलिक तत्त्वों का हम सही अर्थ क्या लें। पहले पहल अग्नि, पृथ्वी, हवा और पानी इन चार पदार्थों को मौलिक तत्त्व की संज्ञा दी गई। इसके बाद यह सोचा गया प्रत्येक रासायनिक पदार्थ का मूलभूत अणु ही परमाणु है। उसके बाद प्रोटोन, न्यूट्रोन और एलेक्ट्रोन ये तीन मूल भूत अणु माने गये और अब तो मूल भूत अणुओं की संख्या बीस तक पहुँच गई है। यह संख्या और भी आगे बढ़ सकती है। क्या वास्तव में ही पदार्थ के इतने टुकड़ों की आवश्यकता है या मूलभूत अणुओं का यह बढ़ावा पदार्थ मूल सम्बन्धी नितान्त हमारे अज्ञान का ही सूचक है?............सही बात तो यह है कि मौलिक अणु क्या है यह पहेली अब तक सुलझ नहीं पाई है[1]।

आज के इस यन्त्र-प्रधान युग में भी जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ

---

1. We have gone a long way from the simple picture of a universe which required only three elementary particles to build up all matter. At the moment at least sixteen elementary particles are known and the existence of as many again is possible ....The great multiplicity of these particles is highly unsatisfactory and raises the of question of what we really mean by an elementary particle. Originally the name was applied to the four elements : fire, earth, air and water. Later it was thought that the Atom of each chemical element was an elementary particle. Then the term was limited to three only, proton, neutron and electron, it has now been extended to over twenty particles, and still more may yet be discovered. Is there really a need for so many units of matter, or is this multiplicity of particles an expression of our total ignorance of the true nature of ultimate structure of matter......?......At the moment, despite the remarkable progress made in nuclear physics, the riddle of elementary particles still remains unsolved.

है तो उस युग में जब प्रयोगशालायें और यान्त्रिक साधन नहीं थे; जैन दार्शनिकों ने जो परमाणु की सूक्ष्मता पदार्थ के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म और परमाणु की अनन्त धर्मात्मकता आदि विषयों को असीम निश्चलता से कैसे छाना, यही प्रश्न जिज्ञासाशील मानव को इन्द्रिय प्रत्यक्ष की छोटी तलैया से निकाल कर आत्म-प्रत्यक्ष के लहलहाते महासागर की ओर झाँकने को उत्कण्ठित कर देती है।

३

आत्म-अस्तित्व

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझे कहाँ जाना है, जीवन के ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक जटिल प्रश्न हैं। इन्हीं प्रश्नों की उर्वर भूमिका पर ही संसार के सारे दर्शन खड़े हुए हैं। विज्ञान भी जब 'किं तत्त्वं' की जिज्ञासा लेकर प्रकृति के अखाड़े में उतरता है तो सबसे पहले इन्हीं प्रश्नों के साथ मल्ल प्रतिमल्ल विधि से उसे अड़ जाना पड़ता है। यदि पूछा जाये कि ये प्रश्न कब से हैं तो इसका एकमात्र उत्तर होगा कि जब से सृष्टि है। यदि पूछा जाय, इसका उत्तर क्या है तो दो प्रकार के समाधान प्रस्तुत होंगे। (१) तुम एक शाश्वत इकाई, कृत कर्मों के अनुसार नाना योनियों में भ्रमण करने वाले, चैतन्य गुणोपेत एक स्वतन्त्र सत्ता हो, निःश्रेयस को पा लेना तुम्हारा लक्ष्य है। (२) वर्तमान जीवन के पूर्व तुम न कुछ थे और न इसके बाद ही कुछ रहोगे। दोनों ही निर्णयों में दिन-रात का अन्तर है। असीम कालीन मीमांसा के पश्चात् भी विश्व जीवन के इस अनन्य विषय पर एकमत नहीं हो सका।

आत्मा की स्थिति क्या है, यह समझे बिना जीवन का कोई ध्येय ही नहीं बन सकता। प्रस्तुत प्रसंग में हमें यही विचार करना है कि दार्शनिकों ने आत्मा के प्रश्न को कितना महत्त्वपूर्ण माना, इस विषय में उनकी क्या निष्ठा रही और उस निष्ठा के आधारभूत तर्क क्या थे तथा विज्ञान का आत्म-गवेषणा सम्बन्धी इतिहास क्या है, बीसवीं शताब्दी की नई थियोरियाँ आत्मवाद की दिशा में क्या नया तथ्य उपस्थित करती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो हमें यह देखना है कि आत्मा के विषय में पूर्व पश्चिम की ओर झुकता है या पश्चिम पूर्व की ओर; दर्शन विज्ञान की राह पकड़ता है या विज्ञान दर्शन की।

वैदिक दृष्टि

नचिकेता और आत्मविद्या

बालक नचिकेता के पिता ऋषि वाजश्रवस् ने प्रण किया था कि मैं अपनी सब सम्पत्ति दान कर दूंगा और उन्होंने ऐसा ही किया। जब याचक एक-एक चीज उठाकर ले जाने लगे तब नचिकेता ने सोचा, पिता मुझे भी किसी को देंगे। वह पिता के पास गया और पूछने लगा, "पिता ! मुझे आप किसे देंगे ?" पिता मौन रहा। नचिकेता ने

दूसरी वार पूछा, तीसरी वार पूछा तो पिता ने झुंझलाकर कहा—"मृत्यु को।" सुकुमार वच्चा क्रूर वाक्य को सुनते ही विह्वल हो गया। शरीर वच्चे का था पर आत्मा पुरानी थी। संसार भ्रमण की उसकी अवधि समाप्त हो चुकी थी। वह मृत्यु से छुटकारा पाने यम के घर पहुँचा। यमराज घर में नहीं थे। वह दरवाजे पर तीन दिन तक निराहार वैठा रहा। यमराज आये। भूखे-प्यासे वालक पर दया उमड़ी। उन्होंने कहा—"तीन दिन तक मेरा अतिथि होकर तू मेरे घर पर भूखा वैठा रहा, मुझे ऋणी किया, इसलिये तीन वर माँग, जो कहेगा वह दूंगा।" वालक ने दो के वाद तीसरा वर माँगते हुए कहा, "मृत्यु के पश्चात् कुछ कहते हैं मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व है। कुछ कहते हैं नहीं, सही तत्त्व क्या है यह आप मुझे वतायें—यही मेरा तीसरा वर है।"[1]

यमराज ने मनुष्य लोक से इतर समस्त लोकों का अववोध उसे दिया और वताया कि इस लोक को छोड़कर जीव अन्य लोक में चला जाता है। वह यहीं नष्ट नहीं हो जाता। यह पूछने पर कि क्या वहाँ मृत्यु नहीं है? यमराज ने वताया कि मुक्ति के अतिरिक्त मृत्यु का भय सर्वत्र है। नचिकेता ने कहा कि मुझे तो वही विधि वताइये जिससे अमरता प्राप्त हो और किसी भी अनात्म-विद्या से मेरा कोई तात्पर्य नहीं है।

यम ने उसे भुलाने के लिये वहुत से प्रलोभन दिये और कहा—"तू इस विद्या के लिये आग्रह मत कर, इसका वोध होना कोई साधारण वात नहीं है। देवता भी इस विपय में संदेहशील रहे हैं[2]।" वालक अपने हठ पर दृढ़ रहा। वह एक ही वात कहता गया—'मुझे अमरता चाहिये।' यम को प्रसन्नता हुई और उन्होंने आत्मसिद्धि का समस्त रहस्य उसे वताया। नचिकेता ने यमराज से आत्मविद्या तथा समग्र योग विधि पाकर ब्रह्म का अनुभव किया, राग द्वेप के मल से उसका चित्त शुद्ध हुआ और वह मृत्यु के पास पहुँचा। इसी प्रकार अन्य भी जो आत्म तत्त्व को पाकर तथा प्रकार से आचरण करेंगे वे अमरता को प्राप्त करेंगे[3]।

---

१. "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेप वरस्तृतीयः॥"
—कठोपनिपत् १-२०।

२. "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयं अणुरेप धर्मः।"
—कठोपनिपत् १-२१।

३. मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा, विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं योविदध्यात्ममेव।
—कठोपनिपत् ६-१८।

मैत्रेयी

याज्ञवल्क्य संसार से पराङमुख होकर अपनी पत्नी मैत्रेयी को धन-दौलत सम्भलाने लगे। उसने पूछा—"क्या मैं इस धन-सामग्री से अमर हो जाऊँगी ?" ऋषि ने कहा, "नहीं।" तब उसने कहा—"जिससे मैं अमर नहीं बनती उसे लेकर क्या करूँ[1] तब याज्ञवल्क्य ने आत्म-विद्या का उसे ज्ञान दिया।

सनत्कुमार और नारद

वैदिक परम्परा में आत्मविद्या का क्या स्थान है, यह समझने के लिए नारद और सनत्कुमार का आख्यान बहुत उपयोगी है।

नारद सनत्कुमार के पास गये और उन्होंने कहा कि कुछ शिक्षा दीजिये। सनत्कुमार बोले—"पहले क्या पढ़े हो, यह बताओ।" नारद ने कहा—"ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चारों वेद, पंचम वेद रूपी इतिहास पुराण, वेद-व्याकरण, श्राद्ध-कल्प, गणित, उत्पात-ज्ञान, शकुनशास्त्र, दिव्यशक्तिशास्त्र, गुप्तधन-गवेषण-विद्या, आकरशास्त्र, तर्कशास्त्र, शास्त्रार्थविद्या, युक्तिशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजशास्त्र, देवविद्या, शब्दकोष, शिक्षा-कल्प, छन्दजाति, भूतविद्या, धनुर्वेद, समस्त युद्धशास्त्र, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, जन्तुशास्त्र, गन्धर्वविद्या, चतुःषष्टिकला, गीत, वाद्य, नृत्य, शिल्प, पाकविज्ञान यह सब मैंने पढ़ा, पर मुझे ऐसा लगता है कि मैं केवल शब्दों तक ही पहुँचा, अन्तर्भूत आत्मस्वरूप को नहीं पहचान सका। मैंने सुना है आत्मस्वरूप को जान लेने वाला शोकमुक्त हो जाता है। मैं शोकग्रस्त हूँ, मुझे आत्मज्ञान देकर शोकमुक्त करिये[2]।"

आत्म विज्ञान के सम्बन्ध में यही बात मनु कहते हैं—"सब ज्ञानों में श्रेष्ठ आत्म-ज्ञान है, वही सब विद्याओं में अगली विद्या है, जिससे मनुष्य को अमृत (मोक्ष) मिलता[3] है। गीता का यह कथन वैदिक आस्तिक भावना को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है—'जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को उतारकर नवीन वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार वह (आत्मा) जीर्ण शरीरों को छोड़ती है और नये शरीरों को प्राप्त करती है[4]। "आत्मा को शस्त्र नहीं छेद सकते, न उसे अग्नि ही जला सकती है। न उस पर

---

१. येनाहं न अमृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ? —बृहदारण्यकोपनिषत्।

२. छान्दोग्य उपनिषद्, प्रपाठक ७ खण्ड १।

३. सर्वेषामपि चैतेषा, मात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ —मनु० अ० १२।

४. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
—गीता अ० २ श्लोक २२।

पानी का कोई असर होता है और न हवा का। अर्थात् पानी उसे आर्द्र नहीं कर सकता और हवा उसे सुखा नहीं सकती[1]।" "जो नहीं है वह पैदा नहीं हो सकता, जो है उसका नाश नहीं हो सकता। तत्त्वदर्शियों ने असत् और सत् का यही हार्द माना है[2]।"

वेदों में यद्यपि पुनर्जन्म के विषय में इतने सुस्पष्ट और विकसित विचार नहीं मिलते जितने अन्यान्य वैदिक साहित्य में, तथापि वैदिक परम्परा में आस्तिकता की मूल भित्ति वेद ही है। "कुत अजाता कुतइयं[3]" 'यह सृष्टि कहाँ से निकली, कहाँ से पैदा हुई"—इसी विचार भूमि पर आगे चलकर वैदिक आस्तिकवाद विकसित हुआ।

वैदिक परम्परा में नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, योग इन पाँच दर्शनों और इनके भेद प्रभेदों का जन्म हुआ। सभी दर्शनकारों ने वेद की दुहाई देते हुए आत्मा, मोक्ष, आदि तत्त्वों की स्वतन्त्र व्याख्याएँ कीं। किसी दर्शनकार ने आत्मा को अणुमात्र और किसी ने सर्व देशव्याप्त माना। किसी ने उसे एक पृथक् सत्तावाला द्रव्य और किसी ने उसे एक व्यापक अखण्ड सत्ता का अंश। कुछ भी माना हो पुनर्जन्म, कर्म (पुण्य, पाप) ज्ञान, चैतन्य, अनुभूति, अमरता आदि विषयों पर वे यहाँ तक एक हैं कि प्रस्तुत विवेचनीय विषय में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में नास्तिकता के सामने आस्तिकता के प्रश्न पर सब एक हैं।

बौद्ध दृष्टि

आत्मा के विषय में बौद्ध दर्शन एक निराली ही दृष्टि रखता है। कुछ अर्थों में वह बृहस्पति के चार्वाक दर्शन का अनुकरण करता है और कुछ अर्थों में परम आस्तिक वैदिक और जैन का। ऐसा लगता है कि अन्यान्य विषयों की तरह आत्मा व पुनर्जन्म के विषय में भी उन्होंने मध्यम मार्ग पर चलने का ही संकल्प रखा है। बुद्ध जितने आत्मवादी थे, उतने ही अनात्मवादी भी। वे एक ओर शाश्वत आत्मवाद की तीव्र आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर कुछ भेद से आत्मा की उन समस्त स्थितियों को मान लेते हैं जो आत्मवादियों द्वारा स्वीकृत हैं। अन्ततोगत्वा असद्वाद और शून्यवाद का आग्रह रखते हुए भी वे पुण्य, पाप, पुनर्जन्म और मुक्ति को मान ही लेते हैं। अतः उन्हें आस्तिक दर्शन की श्रेणी में मान लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये।

---

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ —गीता अ० २ श्लोक २३।

२. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ —गीता अ० २ श्लोक १६।

३. ऋग्वेद १०-१२९-६।

बौद्ध दर्शन में पुद्गल, जीव, आत्मा, सत्ता ये सब शब्द एक दूसरे के समानार्थक हैं। इन शब्दों से अभिहित पदार्थ कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परस्पर सम्बन्ध अनेक धर्मों का सामान्य नामकरण आत्मा या पुद्गल है। बौद्ध मत में व्यवहारिक रूप से आत्मा का निषेध नहीं किया गया है, प्रत्युत पारमार्थिक रूप से ही। अर्थात् लोक-व्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान आदि पंच स्कन्धों का समुदाय मात्र है, परन्तु इनके अतिरिक्त आत्मा कोई परमार्थ भूत पदार्थ नहीं है।

बुद्ध आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता न मानते हुए भी मन और मानसिक वृत्तियों की सत्ता सर्वथा स्वीकार करते हैं। पंच स्कन्धों की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—

(१) **रूपस्कन्ध**—रूप शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है। 'रूप्यन्ते एभिर्विषयाः' अर्थात् जिसके द्वारा विषयों का रूपण हो। दूसरी व्याख्या—'रूप्यन्ते इति रूपाणि' जो रूपित होते हों अर्थात् विषय। इस प्रकार रूपस्कन्ध विषयों के साथ संबद्ध इद्रियों तथा शरीर का वाचक है।

(२) **विज्ञान स्कन्ध**—अहं (मैं) का ज्ञान तथा इन्द्रिय जन्य रूप रसादि का ज्ञान ये दोनों प्रवाहापन्न ज्ञान विज्ञान स्कन्ध के द्वारा वाच्य हैं[1]।

(३) **वेदना स्कन्ध**—बाह्य वस्तु का ज्ञान होने पर उसके संसर्ग का चित्त पर जो असर होता है वह तीन प्रकार का होता है—सुखमूलक, दुःखमूलक और असुख अदुःख मूलक।

(४) **संज्ञा स्कन्ध**—वेदना के आधार पर जो स्पष्ट ज्ञान होता है और उसके आधार पर जो पदार्थ का नामकरण किया जाता है, वह संज्ञा का अवबोध 'यत् किंचिदिद' कुछ है तक ही रह जाता है. और संज्ञा में नाम जाति आदि प्रकारों तक पहुँच जाता है।

(५) **संस्कार**—संस्कार में अनेक मानसिक प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है। प्रधानतया राग और द्वेष का रागादिक क्लेश, मद, मानादि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म ये सब इस स्कन्ध के अन्तर्गत हैं[2]।

बौद्ध दर्शन की आत्मा इन्हीं पाँच स्कन्धों का संघात मात्र है। संघात का अर्थ है—समुदाय। इसी रहस्य के अनुसार बुद्ध आत्मा के विषय में हमेशा रहस्यपूर्ण उत्तर देते रहे हैं। पसेनादि नामक राजा उनसे एक बार पूछता है[3]—हे तथागत! क्या

---

१. विज्ञानस्कन्धोऽहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियजन्यो वादण्डायमानः।

२. संज्ञास्कन्धः सविकल्पप्रत्ययः संज्ञासंसर्गयोगप्रतिभासः भामती।

३. संयुत्त निकाय (Samyutta Nikaya)।

मृत्यु के बाद भी इस तथागत का कोई अस्तित्व है ?

बुद्ध—महाराज ! इसका उत्तर अव्यक्त है।

राजा—तो क्या मृत्यु के पश्चात् इसका कोई अस्तित्व नहीं है ?

बुद्ध—यह भी अव्यक्त है।

राजा—तो क्या यह कहना चाहिये कि मृत्यु के पश्चात् इस तथागत का अस्तित्व है भी और नहीं भी ?

बुद्ध—यह भी अव्यक्त है।

राजा—ये अव्यक्त क्यों हैं ?

क्यों का उत्तर क्यों से ही देते हुए बुद्ध ने कहा—तुम्हारी राजसभा में रहने वाला कोई गणक समुद्र के जलकण और रेगिस्तान के धूलिकण गिन सकता है ?

राजा—नहीं।

बुद्ध—क्यों ?

क्यों का उत्तर क्यों से पाकर राजा ने संतोष किया।

मैं समझता हूँ इस प्रश्न से बौद्ध-दर्शन की आत्मा और पुनर्जन्म के प्रश्न और भी रहस्यमय बन जाते हैं। आवश्यक होगा कि एक अन्य उदाहरण के सहारे विषय को कुछ स्पष्ट कर दिया जाये। 'मिलिन्द प्रश्न' में भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द को बुद्ध-सम्मत आत्म-रहस्य बहुत ही सरलता से समझाया है। राजा मिलिन्द पूछता है—

"भदन्त ! आपके ब्रह्मचारी आपको नागसेन नाम से पुकारते हैं, तो यह नागसेन क्या है ? भन्ते क्या ये केश नागसेन हैं ?"

"नहीं महाराज !"

"तो रोयें नागसेन हैं ?"

"नहीं महाराज !"

"ये नख, दांत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वक्क, हृदय, यकृत्, क्लोम, प्लीहा, फुस्फुस, आंत, पतली आंत, पखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्वी, लार, नेटा, लासिका, दिमाग नागसेन हैं ?"

"नहीं महाराज !"

"भन्ते तब क्या आपका रूप नागसेन है ?······वेदनायें नागसेन हैं ? संज्ञा या विज्ञान नागसेन है ?"

"नहीं महाराज !"

"भन्ते तो क्या रूप वेदना, संस्कार और विज्ञान सभी एक साथ नागसेन हैं ?"

"नहीं महाराज !"

'तो क्या इन रूपादिकों से भिन्न कोई नागसेन है ?"

"नहीं महाराज !"

"भन्ते मैं आप से पूछते-पूछते थक गया किन्तु नागसेन क्या है, इसका पता नहीं चलता। तो नागसेन क्या शब्द मात्र है। आखिर नागसेन है कौन ? आप झूठ बोलते हैं कि नागसेन कोई नहीं है।"

तब आयुष्मान् नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहा—"महाराज ! आप क्षत्रिय बहुत ही सुकुमार हैं ! इस दुपहरी की तपी और गर्म बालू और कंकड़ भरी भूमि पर पैदल आये हैं या किसी सवारी पर ?"

"मैं पैदल नहीं आया, रथ पर आया हूँ।"

"महाराज ! आप रथ पर आये तो मुझे बतायें कि आपका रथ कहाँ है, क्या ईषा (दण्ड) रथ है ?"

"नहीं भन्ते।"

"क्या अक्ष (धूरे) रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते।"

"क्या चक्के रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते।"

"क्या रथ का पञ्जर, रथ की रस्सियाँ, लगाम, चाबुक रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते।"

'महाराज क्या ईषा (अक्ष) आदि सब एक साथ रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते।"

"महाराज क्या ईषा आदि से परे कहीं रथ है ?"

'नहीं भन्ते।"

"महाराज मैं आप से पूछते-पूछते थक गया, परन्तु पता नहीं चला कि रथ कहाँ है, क्या रथ केवल शब्द मात्र है ? आखिर यह रथ क्या है, महाराज ! आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है ? महाराज सारे जम्बू द्वीप के आप सबसे बड़े राजा हैं। भला किसके डर से आप झूठ बोलते हैं ?"

तब राजा मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन से कहा—"भन्ते मैं झूठ नहीं बोलता। ईषा आदि रथ के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए "रथ" ऐसा नाम कहा जाता है।"

"महाराज ! बहुत ठीक। आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम कहा जाता है परन्तु परमार्थ में नागसेन ऐसा कोई पुरुष विद्यमान नहीं है।"

यहाँ आत्मा विषयक बौद्धमत का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। दृष्टांत भी नितान्त रोचक है।

पुनर्जन्म

बुद्ध के कथनानुसार यदि आत्मा अनित्य समुदाय (संघात) मात्र ही है तो पुनर्जन्म किसका होता है ? बुद्ध पुनर्जन्म और कर्म फल में सर्वथा विश्वास रखते हैं। एक बार पैर में काँटा बिंध जाने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओं ! इस जन्म से एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र-विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी। उसी कर्मफल के कारण मेरा पैर काँटे से बिंध गया है[1]।"

एक ओर कर्मवाद की यह दृढ़ निष्ठा और दूसरी ओर आत्मा को क्षणस्थायी मानकर चलना अनायास एक उलझन पैदा कर देता है। बौद्ध दीपशिखा के दृष्टान्त से इस स्थिति को स्पष्ट करते हैं। दीया रात भर जलता है। साधारण व्यवहार में यही माना जाता है कि एक ही दीप रातभर प्रकाश करता रहा है, पर स्थिति कुछ भिन्न है। प्रथम पहर में जलने वाली लौ भिन्न थी और दूसरे पहर में जलने वाली भिन्न। यही नहीं प्रथम क्षण और दूसरे क्षण की लौ भी भिन्न है, यह तनिक चिन्तन से अनुभव में आता है। तेल प्रवाह के रूप में जलता है। लौ उसके जलने का परिणाम है। वह प्रतिक्षण नई पैदा हो रही है। उसका बाह्य रूप ज्यों का त्यों स्थितिशील पदार्थ के रूप में दीखता रहता है। आत्मा के विषय में भी बौद्ध दर्शन के अनुसार ठीक यही स्थिति चरितार्थ होती है। मिलिन्द प्रश्न में बताया गया है[2] कि किसी वस्तु के अस्तित्व के विषय में एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है ; और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। इसी कारण पुनर्जन्म के समय न वही जीव रहता है न दूसरा ही हो जाता है। एक जन्म के अन्त में विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।

पूर्ण आस्तिकता

बौद्ध दर्शन का आत्मा विषयक मंतव्य विविध प्रकार से स्पष्ट किया जा चुका है। उपसंहार करते हुए यह और बताया जाता है कि बौद्ध दर्शन आत्मा का स्वरूप किस भाँति मानता है। यह निश्चित है कि वह पुनर्जन्म, कर्मवाद, स्वर्ग, नरक, मोक्ष

---

१. इत एकनवतीकल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्म विपाकेन पादे विद्धोस्मि भिक्षवः ॥ —षडदर्शन समुच्चय टीका।

२. हिन्दी अनुवाद पृ० ४९-५० ।

आदि को नहीं मानने वाला नास्तिक नहीं है। बौद्ध-दर्शन की आस्तिकता, मान्यता का पुष्ट प्रमाण हमें 'दीर्घ निकाय' में मिलता है। सेतव्या नगरी के राजा पएसी जो नितान्त नास्तिक था, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, मोक्ष आदि मे जिसका तनिक भी विश्वास नहीं था और जो अत्यन्त क्रूरकर्मी था, उसने नास्तिकता के बीसों प्रश्न कश्यपकुमार श्रमण (बुद्ध के शिष्य) के सामने रखे और कश्यपकुमार श्रमण ने अपनी प्रबल युक्तियों से उन समस्त नास्तिकतात्मक प्रश्नों का जोरदार खण्डन और आस्तिकता का असाधारण मण्डन किया[1]।

स्वयं बुद्ध के आचरण व उपदेश भी अहिंसा प्रधान थे। मोक्ष प्राप्ति उनके जीवन का परम ध्येय था। वे स्वयं सन्यस्त जीवन में थे तथा दूसरों को भी साधु जीवन में आने का उपदेश करते थे। नास्तिकों की व अपुनर्जन्मवादियों की भावना में श्रमण धर्म पर चलने की गन्ध ही नहीं आ सकती। बुद्ध के उपदेशों में भी सर्वत्र आस्तिकता का समर्थन मिलता है। उनका उपदेश था—"जो हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, पर-स्त्री सेवन करता है, मद्यपान करता है, वह अपनी ही जड़ खोदता है[2]।" "किसी प्रकार के पाप का न करना, श्रेय को प्राप्त करना और अपनी आत्मा की शुद्धि करना, यही बुद्ध की आज्ञा है[3]।"

जैन दृष्टि

मौलिकता की दृष्टि से यह माना जा सकता है कि जैन आगमों में आत्मा का शाश्वत भाव जितना स्पष्ट मिलता है उतना अन्य मूल ग्रन्थों में नहीं। भगवान् श्री महावीर के प्रवचनों में आत्मा का सर्वाङ्गीण स्वरूप सदा ही निश्चित और सुस्पष्ट रहा है। लोक क्या है इस पर बोलते हुए वे बताते हैं—"धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छः मूल द्रव्य हैं और इन्हीं की समष्टि लोक है[4]।" यहां आत्मा

---

१. विशेष विवरण दीर्घ निकाय २-१० हिन्दी-अनुवाद पृ० १९९ से २११ तक।

२. यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति, परदारं च गच्छति ॥
सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेव मे सो लोगम्मि मूलं खनति अत्तनो ॥ —धम्मपद १८-१२-१३।

३. सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं। —धम्मपद १४-५।

४. धम्मो अधम्मो आगासो कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहि ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र २८।

को शाश्वत मौलिक द्रव्य बताया गया है। बुद्ध ने जिन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर छोड़ दिया, उन्हीं प्रश्नों का समाधान भगवान् महावीर ने सीधे-सादे शब्दों में कर दिया। शब्द सीधे किन्तु तत्त्व गम्भीर था। जीव अन्तसहित है या अन्तरहित इसका उत्तर देते हुए उन्होंने बताया[१]—

द्रव्य से—एक जीव सान्त।

क्षेत्र से—असंख्य प्रदेशावगाही सान्त।

काल से—था, है और रहेगा। नित्य है तथा अन्तरहित है।

भाव से—ज्ञान, दर्शन, चरित्र गुरुलघु, अगुरुलघु पर्याय की अपेक्षा अनन्त व अन्तरहित है।

जीवन में सुख और दुःख क्यों होते हैं, इसका समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने बताया—'सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त आत्मा अपने आप ही सुख और दुःख का कर्त्ता व विकर्त्ता है और अपने आप ही मित्र व अपने आप ही अमित्र है[२]।

उनके उपदेशों में इह और पर दोनों लोकों की चर्चा रही है। इन्होंने दोनों लोकों के सुख का मार्ग बताया है, "आत्मा का दमन करने वाला दोनों लोकों में सुखी होता है[३]।" उन्होंने आत्मा के लक्षण बतलाये—"ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य (शक्ति), उपयोग ये जीव के लक्षण हैं[४]।"

---

१. जेविय ते खंदया ! जाव सपंते जीवे, अणंते जीवे,
तस्सवियणं अयमट्ठे हवं एवं खलु जाव दव्वओणं एगेजीवे सअंते,
खेतओणं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्ज पएसो गाढे
अत्थि पुण से अन्ते, कालओणं जीवे न कदाई, न आसि, णिच्चे;
नत्थि पुण से अन्ते, भावओणं जीवे अणंता णाणपज्जवा,
अणंता दंसणपज्जवा, अणंता चरित्तपज्जवा, अणंता गुरुयलहुअ
पज्जवा, अणंतागुरुयलहुअपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते।

—भगवती श० २ उ० १।

२. अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।
आप्पा मित्तममित्तं च सुपट्ठिय दुपट्ठि यो॥

—उत्तराध्ययन १।

३. अप्पादंतोसुही होइ असिलोए परत्थय।

—उत्तराध्ययन १-५५।

४. नाणं च दंसणं चेव चरितं च तवो तहा।
वीरियं उवओगोय एवं जीवस्स लक्खणं॥

—उत्तराध्ययन २८-११।

जैन आगमों में नास्तिक दर्शन का उल्लेख व उसका निराकरण भी यथा प्रसंग किया गया है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन में अन्य मतों का उल्लेख करते हुए नास्तिकों के बारे में कहा गया है—"कुछ लोग कहते हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पाँच महाभूत हैं। इन पांच महाभूतों के योग से आत्मा उत्पन्न होती है और इनके विनाश व वियोग से आत्मा भी नष्ट हो जाती है[1]।"

शीलांकाचार्य इन्हीं गाथाओं की व्याख्या करते हुए उक्त मान्यता का निराकरण इस प्रकार करते हैं—"भूत समुदाय स्वतन्त्र धर्मा है। उसका चैतन्य गुण नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के अन्य पृथक्-पृथक् गुण हैं। जो अन्य-अन्य गुणवाले पदार्थों का समुदाय है उससे किसी अपूर्व गुण की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे रूक्ष बालुकणों के समुदाय से स्निग्ध तैल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। घट और पट (वस्त्र) के समुदाय से स्तम्भ की उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है भूतों का नहीं[2]।" इसी विषय पर चूर्णिकार की उक्ति को सम्मुख रखते हुए शीलांक... चार्य दूसरी युक्ति देते हैं—"पाँच भिन्न गुणोंवाले भूतों के संयोग से चेतना ... गुण उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने ... विषय का ही ज्ञान करती हैं। एक द्वारा जाने हुए विषय को दूसरी इन्द्रिय नहीं ... जानती। फलित यह होता है कि पाँचों इन्द्रियों द्वारा जाने हुए विषय की समष्टि ... से अनुभूति करने वाला द्रव्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है[3]।"

आचारांग सूत्र का जो कि जैन धर्म के ११ मूल ... आगमों में प्रथम आगम है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी जो सब आगमों से प्राचीन ... माना जाता है, प्रारम्भ आत्म-विवक्षा से ही होता है। वहाँ कहाँ गया है—" ... अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते, मैं कहाँ

१. सन्ति पंच महब्भूया, इहमेगे...
पुढवी आउ तेउ वा वा... ...सि माहिया।
एए पंच महब्भूया ... ...उ आगास पंचमा ॥ ७
अह तेसिं विणा... तओ एगोत्ति आहिया।

२. भूतसमु... ...सिणं विणासो होइ देहिणो ॥ ८
स्तीति साध्यो धर्... ...यः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वे नोपादीयते न तस्य चैतन्याख्यो गुणो... गुणोत्पत्तिर्न... ..., पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्। यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्रापूर्व... पटसमु... भवतीति। यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घट न... ...ये वा न स्तम्भादयो विभावा इति, दृश्यते च कार्यं चैतन्यं तस्मात्सिद्धो ... ...भूतानामिति।

३. पंचण्हं संयोगे अण्ण गुणाणं न चेयणाइ गुणो होई।
पंचिन्दिय ठाणाणं ण अण्ण मुणियं मुणइ अण्णो ॥

से आया हूँ ? मेरा भवान्तर होगा या नहीं ? मैं कौन हूँ। यहाँ से कहाँ जाऊँगा[१]।"

पाँचवें मूल आगम भगवती में आत्मा के स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ जीव को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य बताया गया है[२]।

एक प्रसंग में भगवान् श्री महावीर अपने शिष्य गौतम मुनि के प्रश्न का उत्तर देते हुए जीव को (आत्मा को) अशाश्वत भी बताते हैं। वह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

"भगवन् ! जीव नित्य (शाश्वत) है या अनित्य ?"

"गौतम ! जीव नित्य भी है अनित्य भी।"

"भगवन् ! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है अनित्य भी ?"

"गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है भाव की अपेक्षा से अनित्य[३]।"

भगवान् श्री महावीर किसी विषय में एकान्त पक्षी नहीं थे। वे हर वस्तु का निरूपण आपेक्षिक दृष्टि से करते थे। साधारणतया यह स्पष्ट विरोधाभास लगता है कि जीव शाश्वत भी है अशाश्वत भी; किन्तु जब वे अपेक्षाओं का उल्लेख कर देते हैं तब वस्तु स्थिति प्रकाश में आ जाती है।

द्रव्यतः का तात्पर्य है, जीव अपने द्रव्यत्व अर्थात् जीवत्व से नित्य है। उसका जीवत्व भूत में था, वर्तमान में है और भविष्य में सदा रहेगा। भावतः का तात्पर्य है, जीव का स्वरूप (पर्याय) हमेशा बदलता रहेगा। एक ही जीव नाना योनियों को और एक ही योनि में बचपन तारुण्य, वार्द्धक्य आदि नाना स्थितियों को अपनाता व छोड़ता रहेगा।

आत्मा शाश्वत है। जन्म [illegible] परणशील संसार के उस पार पहुँचना उसका ध्येय है। इस तथ्य का उल्लेख केशी गौतम सम्वाद जो कि उत्तराध्ययन आगम का एक उल्लेख-

---

१. इहमेगेसिं नो सन्ना हवइ तंजहा, क[illegible]हाओ दिशाओ वा आगओ अहमंसि ? अत्थि मे आया अुववाइए वा नत्थि मे आया अुववाइ[illegible]ए ? के वा अहंमसि ? के वा इओ चुइओ पेच्चा भविस्सामि। —आचारांग १-१।

२. जीवो अणाइ अनिधनो अविणासी अक्खओ धुओ [illegible]णिच्चं। —भगवती।

३. जीवाणं भन्ते किं सासया असासया ? गोयमा ! जीवा [illegible]सिय सासया, सिय असासया। केणट्ठेणं भन्ते ! जीवा सिय सासया सिय असासया ? गो[illegible]यमा ! दव्व-ट्ठियाए सासया भावट्ठियाए असासया। —भगवती शतक [illegible] २।

नीय प्रसंग है, में सारभूत विधि से मिलता है। वहाँ "शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा है और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं[1]।"

कर्म मुक्त आत्मा कैसे संस्थान करती है इस विषय में बताया गया है—"जब आत्मा कर्मों का क्षय कर सर्वथा मल रहित होकर सिद्धि को पा लेती है तब लोक के अग्र भाग पर स्थित होकर वह शाश्वत सिद्ध हो जाती है[2]।"

जैनागमों में अन्य आर्ष ग्रन्थों की तरह आत्मा के विषय में स्फुट व्याख्या ही नहीं मिलती अपितु एक परिष्कृत वाद भी मिलता है। "जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा है और जिसके द्वारा जाना जाता है वही आत्मा है, जो इसे स्वीकार करता है वह पण्डित है वह आत्मवादी है[3]।"

आत्मा व जड़ पदार्थों का विसम्बन्ध बताते हुए कहा गया है—"मेरी अपनी ज्ञान दर्शन संयुक्त शाश्वत आत्मा ही धर्मात्मा है, शेष सारे संयोग बाह्य भाव हैं[4]। एक आत्मा का ही मरण है और एक आत्मा की ही सिद्धि है[5]।

जैन दर्शनाभिमत आत्मा को यदि हम थोड़े में कहना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं—आत्मा एक शाश्वत स्वतन्त्र द्रव्य है। उपादान के अभाव में इसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। जिसकी उत्पत्ति नहीं है उसका विनाश भी नहीं है। इसका मुख्य लक्षण ज्ञान है। वह किसी भी योनि में सर्वथा ज्ञान व अनुभूति शून्य नहीं होती। ज्ञान एक ऐसा लक्षण है जो इसे जड़ पदार्थों से सर्वथा पृथक् कर देता है। अपने ही अर्जित कर्मों के अनुसार वह जन्म और मृत्यु की परम्परा में चलती हुई नाना योनियों में वास करती है। अपने ही पुरुषार्थ से वह कर्म परम्परा का उच्छेद कर सिद्धावस्था

---

१. सरीरमाहु नावुत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो।

२. जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छई नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवई सासओ।
—दशवै० अ० ४ गा० १६।

३. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणाति से आया तं पडुच्च पडिसंखाए। से आयावादी।
—आचारांग श्रु० १।

४. एगो मे सासओ अप्पा नाण दंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा।

५. एगस्स चेव मरणं एगो सिज्झइ नीरओ।

को प्राप्त कर लेती है, जहां उसका चिन्मय स्वरूप प्रकट हो जाता है।

आत्मा संकोच विकोच स्वभाववाली होती है। उसके असंख्य प्रदेश होते हैं जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्थान में भी समा जाते हैं और फैलने पर सारे विश्व को भी भर सकते हैं। सकर्म आत्माएँ शरीर परिमाण आकाश का अवगाहन करती हैं। हाथी और चींटी की आत्मा समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह हाथी के शरीर में व्याप्त है और वह चींटी के शरीर में। मृत्यु के बाद हाथी की आत्मा यदि चींटी की योनि में आती है तो संकोच स्वभाव से उसके शरीर में पूरी-पूरी समा जाती है। उसका कोई अंश बाकी नहीं रह जाता। इसी तरह जब चींटी की आत्मा हाथी का भव धारण करती है तो उसकी आत्मा हाथी के शरीर में पूरी तरह व्याप्त हो जाती है। शरीर कहीं खाली नहीं रहता।

जैन धर्म की एक विशिष्ट बात यह है कि वह अनन्त आत्माएँ मानता है। प्रत्येक आत्मा कृत कर्मों का नाश कर परमात्मा बन सकती है। समस्त आत्माएँ अपने आप में स्वतन्त्र हैं। वे किसी अखण्ड सत्ता की अंश रूप नहीं हैं।

नास्तिक दर्शन

भारतवर्ष में अन्य दर्शनों की तरह नास्तिक दर्शन भी प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसके प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं। नास्तिक दर्शन को लोकायतिक व चार्वाक दर्शन भी कहा जाता है। आत्मा के विषय में उसका सिद्धान्त आस्तिक दर्शनों से सर्वथा प्रतिकूल है। संक्षेप में नास्तिक विचारधारा यह है—'आत्मा कोई मौलिक पदार्थ नहीं है, अतः उसकी मुक्ति भी नहीं है और आत्मा की मौलिकता के अभाव में धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, इन सबका भी अभाव है[1]।" "लोक इतना ही है जितना इन्द्रियगोचर है[2]।" "खाओ, पीओ। जो अतीत के गर्भ में चला गया वह तुम्हारा नहीं है। जो मर गया वह वापिस नहीं आयेगा। यह कलेवर केवल भौतिक समुदाय मात्र है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि ये चार भूत चैतन्य भूमि हैं (आकाश को मिलाकर पाँच भूत भी माने जाते हैं)। प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही है। पृथ्वी, जल, वायु अग्नि, आदि भूत चतुष्टय के संयोग से चैतन्य की निष्पत्ति होती है और उनके वियोग

---

१. लोकायिता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः।

२. एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।

में उसका नाश[1] ।"

भारतीय दार्शनिकों ने वैकल्पिक रूप से नास्तिक दर्शन को छः दर्शनों में स्थान दिया है। नास्तिकों की दुर्बल युक्तियों के कारण जहाँ नैयायिक व वैशेपिक दो स्वतन्त्र दर्शन मान लिये जाते हैं वहाँ दुर्बल नास्तिक विचार प्रमुख दर्शनों में स्थान नहीं पा सकते। आस्तिक तार्किकों ने अपने युक्ति बल के सहारे भारतवर्ष में कभी आत्मा के अमर अस्तित्व में अविश्वास रखने वाले नास्तिक विचार को अग्रसर नहीं होने दिया। भारतवर्ष में तो सदा उसकी धज्जियाँ ही उड़ती रहीं।

नास्तिकों ने जब चैतन्य की उत्पत्ति में मद्य शक्ति का हेतु लगाया तो आस्तिकों की आवाज निकली 'नाऽसद् उत्पद्यते न सद् विनश्यति' अर्थात् असद् की उत्पत्ति नहीं होती और सद् का विनाश नहीं होता। मद्य शक्ति का उदाहरण अनुपयुक्त है। द्राक्षा, गुड़ आदि पदार्थों में संयोग से पूर्व भी मादकता विद्यमान है। संयोग से तो केवल वह उद्दीप्त होती है। इस प्रकार क्या तथाभिमत भूतों में चेतना का अस्तित्व वर्तमान है? यदि है तब तो जड़वाद की कोई स्थिति ही नहीं रहती। फिर तो चेतना शाश्वत हो ही गई। जहाँ भूत है वहाँ चेतना है। यदि चेतना संयोगिक ही है तो मद्य शक्ति का उदाहरण अवास्तविक है, क्योंकि मद्य के उपादान में मादकता प्रत्यक्ष है।

नास्तिकों ने कहा कि पुनर्जन्म में विश्वास करके यह संसार अदृष्ट की कल्पना में दृष्ट का परिहार करता है, यह उसकी मूढ़ता है। विवेकी मनुष्य को जो सुख प्रत्यक्ष मिल सकता है येनकेन प्रकारेण उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। अप्रत्यक्ष, असत्य नहीं तो संदिग्ध तो अवश्य है ही।

आस्तिकों ने कहा कि नास्तिकता को दार्शनिकता की कसौटी पर न कस कर यदि जीवन व्यवहार की कसौटी पर भी कसें तो भी वह निंद्य ही ठहरती है; क्योंकि पाप-भीति के अभाव में मनुष्य हिंसा, असत्य, दम्भ, शोषण आदि अमानवीय कृत्यों में सुखार्जन के हेतु प्रवृत्त होता है। इससे परलोक की बात तो दूर इस लोक की भी सामाजिक स्थिति पर कुठाराघात होता है। उन्होंने बताया—"परलोक यदि संदिग्ध है तो भी असद् आचरण तो सत् पुरुषों के लिये त्याज्य ही है। यदि परलोक नहीं है तो इसमें क्या गया? यदि परलोक हुआ तो असद् आचारी नास्तिक की क्या

---

१. पिव खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरुगतं निवर्तते समुदायमात्रमिदं कलेवरम्॥ ८०
पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम्।
चैतन्यभूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि॥ ८१
पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देहादिसंभवः॥ —षड्दर्शनसमुच्चय।

दशा होगी[१] ?"

आत्मा की प्रामाणिकता

आगम प्रणेता भगवान् श्री महावीर के उत्तरवर्ती जैन मनीषियों की भी आत्म सिद्धि के विषय में निर्णायक बुद्धि रही है। इस विषय में उन्होंने बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे, अभूतपूर्व शास्त्रार्थ किए और अपनी अकाट्य युक्तियों से नास्तिकों को पराभूति दी। उस सारे इतिहास का अवतरण यहाँ असम्भव है, यह मानते हुए कुछ एक विशिष्ट ग्रन्थों की एतद्विषयक स्फुट सूक्तियाँ ही यहाँ समुद्‌वृत की जाती हैं जो मनन योग्य हैं—

१. "जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है। कोई सार्थ संज्ञा असद् की बनती ही नहीं।"

२. "जीव है या नहीं यह सोचना मात्र ही जीव की सत्ता सिद्ध करता है। देवदत्त यह सोच सकता है, यह स्तम्भ है या पुरुष, अन्य अजीव पदार्थ नहीं।"

३. "घट के अवलोकन से घट के कर्ता कुलाल का बोध हमें हो जाता है, वैसे ही प्रतिनियत आकार वाले शरीर के अवलोकन से कर्मयुक्त साकार आत्मा का हमें स्वतः अवबोध हो जाता है।"

४. 'शरीर-स्थित जो यह सोचता है कि मैं नहीं हूँ वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है[२]।"

नास्तिक तर्कों का खण्डन आस्तिक तार्किकों ने किस प्रकार किया यह पूर्व के कुछ प्रसंगों पर बताया ही जा चुका है। सारे वर्णन का सारांश यह है कि नास्तिक विचार भारतवर्ष में एक सर्वाङ्गीण दर्शन का रूप ले ही नहीं सके। इसलिये अत्युक्ति

---

१. संदिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः
यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः —आचा० टी०।

२. सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सद्दादेवाणुमीयए।
नासओ भुवि भावस्स सद्दो हवइ केवलो ॥
जीवस्स एस धम्मो जा ईहा अत्थि नत्थि वा जीवो।
खाणु मणुस्साण गया जह ईहा देवदत्तस्स ॥
अत्थि सरीर विहाया पइनिययागार याइ भावाओ।
कुम्भस्स जह कुलालो सो मुत्तो कम्मजो णाओ ॥
जो चिंतेइ सरीरे नत्थि अहं स एव होइ जीवोत्ति।
नहु जीवम्मि असन्ते संसय उप्पायओ अन्नो ॥—विशेषावश्यक भाष्य।

नहीं होगी यदि हम यह कहें कि विभिन्न मतभेदों के होते हुए भी आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त व आत्मा के अनादि अस्तित्व के विलय में समस्त भारतीय दर्शन एक हैं।

पाश्चात्य दर्शन

भारतीय दर्शन परम्परा से विलग होकर हम यदि पाश्चात्य दर्शन के इतिहास की ओर नज़र उठाते हैं तो अधिकांशतः वहाँ भी हमें आत्मा के अमर अस्तित्व का ही समर्थन मिलता है। पाश्चात्य जगत् का आदि दार्शनिक प्लेटो कहता है—"संसार के समस्त पदार्थ द्वन्द्वात्मक हैं; अतः जीवन के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जीवन अनिवार्य है[1]।" इसी प्रकार सुकरात, अरस्तू आदि प्रमुख दार्शनिकों की निष्ठा भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त में रही है। हीगल प्रभृति कुछ दार्शनिकों ने अनास्तिक्य पर जोर दिया पर जहाँ तक दर्शन परम्परा का सम्बन्ध है, भारतवर्ष की तरह इतर देशों में भी आस्तिकवाद का ही प्रभुत्व रहा।

विज्ञान और आत्मा

बेकन अभिनव विज्ञान का पिता माना जाता है। इसने दर्शन से पृथक् वैज्ञानिक परिभाषाएँ निश्चित कीं[2]। प्रत्यक्ष और प्रयोग प्रधान होने से विज्ञान की अभिनव परिभाषाओं पर लोगों की आँखें गई। लोग दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक बनने में अधिक गौरव की अनुभूति करने लगे। माना जाने लगा कि दर्शन का युग बीत गया है और विज्ञान का युग आ गया है।

वैज्ञानिकों ने अन्य विषयों की तरह आत्मा व पुनर्जन्म के विषय को भी विज्ञान की कसौटी पर कसा। उन्होंने सृष्टि व जीवन के विषय में बताया—'किसी समय पृथ्वी दहकते गैस का गोला थी, जिसमें अणु बिखरे हुए थे। अणु नजदीक आए और अणुगुच्छक बने। विरस व विक्टीरिया अस्तित्व में आये। फिर हलवे जैसे बिना हड्डी के जन्तु अमीबा आदि। फिर सीधे प्रकृति से आहार ग्रहण करने वाले स्थावर वनस्पति तथा दूसरों पर अवलम्बित रहने वाले जंगम प्राणी। मछलियों का युग, फिर जल, स्थल प्राणी आये। इनमें से कुछ ने हवा व कुछ ने स्थल का रास्ता लिया। फिर वाणी उनके मुंह से फूट निकली। स्तनधारी वानर, वनमानुष, फिर वनमानुष से—आधे वनमानुष, उससे आधे मानव व द्विपद झाड़ियों में किलकिलाने लगे। इन्हीं में से कुछ जोड़े विकास की उस अवस्था में पहुँच गये जहाँ जाति परिवर्तन (Mutation)

---

१. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास।

२. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास।

होता है और इस प्रकार वे हमारे मानव वंश के आदिम पूर्वज बने' ।"

आश्चर्य होता है कि जिस विज्ञान ने मानव-परम्परा के सृष्टि सम्बन्धी विचारों को अज्ञान व अन्धविश्वासमूलक बताया उसी विज्ञान ने उक्त प्रकार के प्रयोग-शून्य व केवल कल्पना-ग्राह्य विचारों को विज्ञान की कोटि में कैसे स्थान दिया ? कहने को तो कहा जाता है कि विकासवाद बहुत कुछ प्रयोग-सिद्ध है । विश्व के विभिन्न भागों में प्राप्त अवशेषों के द्वारा उसे प्रामाणिक बनाने के भी बहुत प्रयत्न किये गये हैं व बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं, तब भी यह किसी गम्भीर विचारक के हृदय को छूता नहीं है ।

सृष्टि-विज्ञान व जीव-विज्ञान की बहुत सी बातें तो प्रत्यक्ष ऐसी ही हैं जिन्हें काल्पनिक मस्तिष्क की निराधार उड़ान के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता । उदाहरणार्थ-पृथ्वी सूर्य से टूटी, चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है तो अवश्य वह भी पृथ्वी से टूटा है । पृथ्वी पहले अवश्य सेम जैसी रही होगी । उसका नुकीला भाग टूट कर ही चन्द्रमा हुआ होगा । और जब प्रश्न आया बन्दर या वनमानुष से मनुष्य बना तो उसकी पूँछ कहाँ गायब हो गई, तो कल्पना की गई कि अवश्य मानवता की ओर अग्रसर होता हुआ चिम्पाजी (मानव जाति का निकटतम पूर्वज बन्दर) ज्यों-ज्यों वृक्षों को छोड़कर धरती पर बैठने का आदी होने लगा, पूँछ घिसते-घिसते खतम ही हो गई । अस्तु-तथ्य प्रकार के समाधानों पर प्रश्न उठाए जायँ तो प्रश्नों की परम्परा लम्बी होती जायेगी । दूसरी बात यह है कि विकासवाद अब वैज्ञानिक जगत् से अपने अन्तिम श्वास गिन रहा है । अनुमान व कल्पना की कच्ची भित्ति के सहारे खड़े विकासवाद के मूलभूत नियम एक-एक कर ढहते जा रहे हैं, क्योंकि विभिन्न भूखण्डों से प्राप्त प्राचीनतम अवशेष अब विकासवाद के गवाह होकर नहीं चल रहे हैं ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

आत्मवाद विरोधी वैज्ञानिक प्रणालियों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी एक है । इसे वैज्ञानिक भौतिकवाद भी कहा जाता है । 'डायलेक्टिकल मेटेरियेलिज्म' शब्द का हिन्दी अनुवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' है । द्वन्द्वात्मक का अर्थ—द्विसंवादात्मक पद्धति भी किया जा सकता है किन्तु प्रस्तुत व्यवहार में द्वंद्वात्मक का अर्थ-वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) व संवाद (Synthesis) के रूप में किया जाता है । किसी ने एक बात कही यह वाद हुआ ; दूसरे ने उसका विरोध किया यह प्रतिवाद हुआ ; दो परस्पर विरोधी बातों से एक तीसरी बात तय पाई जाती है, वह संवाद हुआ । द्वन्द्वा-

---

१. मानव समाज पृ० १ ।

त्मक भौतिकवाद के व्याख्याता अपने अभिमत तथ्य को निम्न प्रकार से उदाहृत करते हैं—

वाद—जीव भूत है।

प्रतिवाद—जीव भूत नहीं, स्वतन्त्र चेतन तत्त्व है।

संवाद—जीव न भूत है, न स्वतन्त्र चेतन तत्त्व, वह भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नया तत्त्व है।

यह भाषण में द्वन्द्ववाद का अर्थ हुआ। प्रकृत क्षेत्र में द्वन्द्ववाद का अर्थ है—अपने भीतरी विरोधी स्वभावों के द्वन्द्व से प्रकृति का एक तीसरे रूप में विकसित होना जैसे—हाइड्रोजन के प्राणपीड़क तथा ऑक्सीजन के प्राणदायक तत्त्वों से तीसरे जल तत्त्व का निर्माण। अस्तु, उपर्युक्त विचारों की समीक्षा करने से पूर्व अच्छा होगा कि वैज्ञानिक भौतिकवाद की सुप्रसिद्ध त्रिपुटी भी कुछ तर्क की कसौटी पर कस ली जाये।

त्रिपुटी

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार जगत् के परिवर्तन की व्याख्या जगत् से करना वैज्ञानिक भौतिकवाद का ध्येय है। वह परिवर्तन जिन अवस्थाओं से होकर गुजरता है, वे सीढ़ियां वैज्ञानिक भौतिकवाद की त्रिपुटी हैं—

(१) विरोधी समागम।

(२) गुणात्मक परिवर्तन।

(३) प्रतिषेध का प्रतिषेध।

वस्तु के उदर में विरोधी प्रवृत्तियां जमा होती हैं। इससे परिवर्तन के लिये सबसे आवश्यक वस्तु गति पैदा होती है, फिर वाद व प्रतिवाद के संघर्ष से संवाद रूप में नया गुण पैदा होता है; यह गुणात्मक परिवर्तन है। पहले जो वाद था उसको भी उसकी पूर्वगामी कड़ी से मिलाने पर वह किसी का प्रतिषेध करने वाला संवाद था, अब गुणात्मक परिवर्तन जब उसका प्रतिषेध हुआ तो यह प्रतिषेध का प्रतिषेध हुआ है।

कुछ लोग मानते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की देन संसार को हीगल ने दी और मार्क्स ने इसे सुव्यवस्थित रूप दिया। कुछ भी हो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सम्बन्ध आज मार्क्स के साथ ही जुड़ा हुआ है और वह उसी का माना जाता है। मार्क्स ने अपने इस वाद को आत्मा व अणु तक ही सीमित नहीं रखा, किन्तु उसे राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक आदि जीवन के सभी प्रमुख पहलुओं पर लागू किया। मार्क्सवादियों के कथनानुसार वहां वह खरा उतरा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के पीछे रूस के लोग तो यहां तक पड़े कि कई डाक्टर भी यह दावा करने लगे कि उनकी चिकित्सा द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार होती है। खैर, कुछ भी हो हमें तो प्रस्तुत

प्रकरण में यही आंकना है कि जड़ के आन्तरिक संघर्ष के परिणामस्वरूप होने वाले गुणात्मक परिवर्तन से चेतना का उदय होता है; मार्क्सवाद का यह निर्भीक कथन तर्क व यथार्थता की कसौटी पर कहाँ तक खरा उतरता है।

विरोधी समागम (Unity of opposites)—दो विरोधी पदार्थों का मिलन ही *विरोधी समागम नहीं किन्तु मार्क्स के कथनानुसार एक ही पदार्थ में दो विरोधी गुणों* (स्वभावों) की अन्तर्व्यापकता विरोधी समागम है। वे दो विरोध एक ही समय एक ही वस्तु में अभिन्न होकर रहते हैं। इस विरोधी समागमता को मार्क्सवादी अपने दर्शन की अपूर्व देन मानते हैं। विभिन्न तार्किकों के द्वारा यह तर्क उठाने पर कि एक वस्तु में दो विरोधी स्वभाव नहीं ठहरते वे बहुत से व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा अपने अभिमत तत्त्व का समर्थन करते हैं। वे हीगल के तर्कशास्त्र से कुछ उदाहरण लेते हैं, जैसे—"जो कर्जदार के लिये ऋण (देन) है वही महाजन के लिए धन (पावना) है। हमारे लिए जो पूर्व का रास्ता है दूसरे के लिए वही पश्चिम का भी रास्ता है।" प्लेटो की निम्न युक्ति को वे अपने समर्थन में प्रयुक्त करते हैं—"हमारी कुर्सी का काठ कड़ा है, कड़ा न होता तो हमारे बोझ को कैसे सँभालता? और काठ नरम है, यदि नरम न होता तो कुल्हाड़ा उसे कैसे काट सकता? इसलिये काठ कड़ा और नरम दोनों है।"

विरोधी समागम की पूर्व विहित व्याख्या को समझकर तो यह मानना होगा कि बहुत सारी बुराइयों में कुछ अच्छाइयाँ भी जीवित रहती हैं। मार्क्स अपने अगले कदम गुणात्मक परिवर्तन में चाहे कितना ही गलत वह गया हो किन्तु विरोधी समागमता तक की उसकी पहुँच अवास्तविक नहीं कही जा सकती। मार्क्स का विरोधी समागम किसी भी दार्शनिक को स्याद्वाद की याद दिलाये बिना न रहेगा। अन्य दर्शन चाहे इसमें एकमत न हों पर जैन दर्शन इसका समर्थन अवश्य करता है कि एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से विभिन्न विरोधी स्वभावों की स्थिति है। जैन दर्शन का स्याद्वाद कहता है कि अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) धर्म एक ही वस्तु के सहभावी धर्म हैं। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से 'स्यादस्ति' और पर द्रव्यक्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से 'स्यान्नास्ति' प्रत्येक वस्तु में सह स्थिति रखते हैं। जैन दर्शन नित्य-अनित्य, एक-अनेक, वाच्य-अवाच्य आदि दर्शन-जगत् के गम्भीरतम प्रश्नों को स्याद्वाद के द्वारा ही हल करता है। मार्क्सवादियों की विरोधी समागमता के उदाहरण ऐसे लगते हैं जैसे बड़ी खोज से वे पाये गये हैं। स्याद्वादियों की विवेचना में तथा प्रकार के उदाहरणों की भरमार है। वहाँ ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो विरोधी धर्मों की सह-स्थिति का उदाहरण न बनती हो। एक रेखा छोटी की अपेक्षा बड़ी व अपने से बड़ी की अपेक्षा छोटी है। एक व्यक्ति बेटा भी है और बाप भी। अपने बेटे की अपेक्षा से वह

बाप है और अपने बाप की अपेक्षा से बेटा। अस्तु; विरोधी समागम की बात भारतीयों के लिये कोई नई नहीं और न वह मार्क्स की ही कोई नई सूझ है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय दार्शनिक अपनी तीव्र मनीषा से इस विषय का मन्थन करते रहे हैं।

गुणात्मक परिवर्तन— द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों की सबसे बड़ी भूल यही हुई कि गुणात्मक परिवर्तन का अर्थ उन्होंने यह माना कि जो नहीं था वह उत्पन्न हुआ। वस्तु के यौगिक व स्वाभाविक परिवर्तन को देखकर वे इस मन्तव्य पर पहुँचे; पर भारतीय दार्शनिक जगत् की परिवर्तनशीलता को सहस्रों वर्ष पूर्व इससे भी बहुत आगे तक परख चुके थे। जैन दार्शनिकों ने तो वस्तु का धर्म ही त्रिविधात्मक बताया, 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' अर्थात् वस्तु वह है जिसके अन्तर में उत्पत्ति, नाश और निश्चलता एक साथ चलते हैं। प्रत्येक वस्तु में पूर्व पर्याय (स्वभाव) का नाश, उत्तर पर्याय की उत्पत्ति व मूल स्वभाव की निश्चलता वर्तमान है। उन्होंने बताया, "अनन्त धर्मात्मकं वस्तु" अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अनन्त स्वभाव है। उनमें से जीर्ण का व्यय है, नवीन का उत्पाद है, और वस्तुत्व का ध्रौव्य है। उदाहरणार्थ—जैसे सोना घट, मुकुट आदि नाना स्थितियों में बदलता है, पर उसका स्वर्णत्व स्थिर रहता है। इसी प्रकार इस रूपी ब्रह्माण्ड के मूल उपादान परमाणु प्रस्तुत स्वरूप को छोड़ते हैं, अनागत को ग्रहण करते हैं किन्तु उनका परमाणुत्व सदा शाश्वत रहता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई रूपी धर्म ऐसा नहीं है जिसका अस्तित्व परमाणुओं में न हो। विश्व संघटना का दूसरा उपादान जीव-आत्मा व चेतन है। वह भी अनन्त धर्मात्मक है और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की त्रिपदी में वर्तता रहता है, पर जड़ का चेतन अत्यन्त विरोधी है। इसलिये जड़ का चेतन में और चेतन का जड़ में गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी तथ्य की पुष्टि गीताकार ने इन शब्दों में की है—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" अर्थात् असद् उत्पन्न नहीं होता और सद् का विनाश नहीं होता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी कहते हैं कि गुणात्मक परिवर्तन से जो भाव पैदा होता है वह उस वस्तु में पहले किसी अंश में नहीं था। वहां तो नितान्त असत् की उत्पत्ति होती है। अतः यह मानना चाहिये कि जड़ के गुणात्मक परिवर्तन से चेतना पैदा होती है।

आज का युवक मानस इस युक्ति से प्रभावित है। उसे लगता है कि मार्क्स ने बहुत ही नवीन और बहुत ही गहरी बात कह दी है। पर किसी भी प्रौढ़ दार्शनिक को यह बात आकर्षित नहीं करती। उसकी दुनिया में तो यही विषय मार्क्स से सहस्रों वर्ष पूर्व इससे भी आगे तक मथा जा चुका है। वह तो कहता है कि बृहस्पति के चार्वाक दर्शन को ही द्वन्द्व और त्रिपुटी का चोगा पहना कर वैज्ञानिक भौतिकवाद बना दिया गया है। लोकायतिक दर्शन जहाँ जड़ भूतों के संयोग में चैतन्य का उदय बताता

है वहाँ वैज्ञानिक भौतिकवाद जड़ तत्त्वों के संघर्ष में। नास्तिकों के सामने जब "नाऽसद् उत्पद्यते" का सिद्धान्त एक दुरूह चट्टान बनकर खड़ा हो गया तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों ने उससे बच निकलने के लिए गुणात्मक परिवर्तन के नाम से असद् उत्पत्ति का असफल मार्ग निकाला।

उदाहरण

गुणात्मक परिवर्तन दूसरे शब्दों में असद् की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी बहुत से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह रोचक विषय होगा कि एक-एक करके कुछ उदाहरणों को यहाँ उपस्थित कर उनकी एक तटस्थ मीमांसा की जाये।

१—ऑक्सीजन एक प्राण-पोषक गैस है और हाइड्रोजन प्राणनाशक। ये एक दूसरे के स्पष्ट विरोधी पदार्थ हैं; किन्तु दोनों के मर्यादित सम्मिश्रण से जल जैसे जीवनोपयोगी तत्त्व का निर्माण हो जाता है। यह हमारा गुणात्मक परिवर्तन व प्रतिषेध का प्रतिषेध है[१]।

उक्त उदाहरण पर यदि हम गहराई से सोचते हैं तो स्पष्ट लगता है कि प्रथम तो यह उदाहरण गुणात्मक परिवर्तन का बनता ही नहीं, क्योंकि उसमें दो विरोधी स्वभावों से तीसरे नये गुण का पैदा होना अनिवार्य है। यहाँ ऑक्सीजन को प्राण पोषक तत्त्व माना गया है और हाइड्रोजन के मिलने पर प्राणपोषक जल का निर्माण हुआ है अर्थात् यहाँ कोई तीसरा गुण नहीं आया। एक में दूसरे का गुण विलीन हुआ है।

दूसरी बात यदि हम मान लें कि जलत्व एक तीसरा गुण है तो भी जड़ से आत्मा के पैदा होने की बात यहाँ सिद्ध नहीं होती। यह तो उनके कथनानुसार जड़ का जड़ में ही रूपान्तर हुआ। आवश्यकता है ऐसे उदाहरण की जहाँ जड़ से चैतन्य की सृष्टि होती हो।

२—वैज्ञानिक भौतिकवादी प्रकृति में सर्वत्र गुणात्मक परिवर्तन देखते व मानते हैं। मिट्टी से ऊख, चीनी, कन्द आदि गुणात्मक परिवर्तन होकर बनते हैं इसी प्रकार जड़ से मन या आत्मा। वैज्ञानिक भौतिकवाद का अर्थ है उससे किन्तु वही नहीं[२]।

यह उदाहरण भी स्थिति को स्पष्ट नहीं करता। ऊख के निर्माण में मिट्टी ही कारण हो, बीज, जल, हवा आदि कुछ भी न हो यह असंगत है। मूल द्रव्य परमाणु

१. वैज्ञानिक भौतिकवाद पृ० १२४।

२. वैज्ञानिक भौतिकवाद पृ० १६६।

कहें या नवीनतम विज्ञान के शब्दों में कण तरंग कहें, उसी की ये नाना परिणतियाँ प्रत्यक्ष दीखती हैं। मिट्टी से यदि किसी को कन्द तक की परिणति मान्य है तो उसे कन्द की परिणति मिट्टी में भी मान्य होगी। इसका हेतु भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता है न कि असद् की कोई उत्पत्ति। पूर्वोक्त तर्क यहाँ भी लागू है ही कि उदाहरण जड़ से जड़ उत्पन्न होने की बात कहता है; जड़ से चेतन की नहीं।

३—अंट्टाघर में बिलियर्ड खेलने वाले देखते हैं कि मेज पर दो विरोधी दिशाओं की ओर गति रखने वाले, गेंद चल रहे हैं। यदि उनकी गति विरोधी न हो तो उनका मिलन न होगा। यदि विरोधी गति होने से एक एक तरफ से आता है दूसरा दूसरी तरफ से तो दोनों विरोधियों का समागम होता है। दो विरोधी गेंदों का जब समागम होता है तो उनके गुणों में भी परिवर्तन हो जाता है। एक अंटा पूर्व को जा रहा था एक उत्तर को। दोनों मिलते हैं—टकराते हैं। अब उनके वेग (गति) की दिशा पूर्व या उत्तर की दिशा में न रह कर नई दिशा होती है। यह गति का गुणात्मक परिवर्तन है[1]।

उदाहरण में शब्दों की सजावट चाहे कितनी ही सुन्दर हो अभिमत तथ्य को सिद्ध करने की यथार्थता कुछ भी नहीं है। यह उदाहरण तो पिछले दो उदाहरणों से भी लचीला है। जल और कन्द के होने में जड़ के बाह्य स्वरूप तो एकदम बदलते थे यहाँ तो दिशा बदलकर दिशा ही रह गई।

वैज्ञानिक भौतिकवादी परिणामात्मक परिवर्तन की बात अपनी मत सिद्धि के लिये बड़े ठाठ से रखते हैं। वे कहते हैं कि गुणात्मक परिवर्तन अपनी निश्चित परिणाम पर पहुँचकर एक आश्चर्यप्रद विधि से होता है। इसीलिये गुणात्मक परिवर्तन प्रकृति सिद्ध नियम है। जैसे—(१) बर्फ बनते समय पानी धीरे-धीरे गाढ़ा नहीं बनता बल्कि टेम्प्रेचर गिरते-गिरते जैसे ही हिम बिन्दु (३२° फार्नहाइट ०° सेन्टीग्रेड) पर पहुँचता है तो वह एकाएक बर्फ हो जाता है।

२—पानी गर्म होते-होते ज्योंही २१० डिग्री फार्नहाइट पर पहुँचता है, वह एकाएक भाप बनकर उड़ जाता है।

३—दूकानदार तोलता है इतनी बारीकी से कि अन्त में वह दोनों पलड़ों को बराबर करने के लिये खसखस के दाने एक एक करके डाल रहा है। शेष का एक दाना जब तक नहीं डाला तब तक डांडी सीधी नहीं है। उस एक के डालते ही डांडी सीधी हो जाती है और एक अधिक डालते ही फिर डांडी झुक जाती है।

---

१. वैज्ञानिक भौतिकवाद पृ० १५७।

४—चार पहलवान एक पत्थर उठाना चाहते हैं। वे सारी शक्ति लगाकर हार गये पर वह नहीं उठा। उस वक्त एक लड़का उधर से आया। उसने अपनी थोड़ी सी ताकत लगाई और पत्थर उठ गया। कारण कि चार पहलवानों की सारी शक्ति के बाद भी थोड़ा भार और बच रहा था। उसके हाथ लगते ही भार व शक्ति का संतुलन हो गया।

इस प्रकार के और भी उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं और उससे भी और अधिक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भारतीय दार्शनिकों का विरोध परिवर्तन से नहीं। सृष्टि का प्रति समय होने वाला परिवर्तन तो सर्वमान्य सिद्धान्त है। उस परिवर्तन के नियमों को हम देश, काल, सदृश, विसदृश आदि की विभिन्न मर्यादाओं में देखते ही हैं। परिवर्तन केवल परिमाण सापेक्ष ही हो ऐसी बात नहीं है। भारतीय आयुर्वेद वेत्ताओं ने भी बताया है कि मधु और घृत वैसे दोनों ही प्राणपोषक द्रव्य हैं पर वे ही समान मात्रा में परस्पर मिल कर ज़हर हो जाते हैं। मैं समझता हूँ कि गुणात्मक परिवर्तन का यह उदाहरण ऑक्सीजन व हाइड्रोजन के उदाहरण से भी कहीं अधिक चुस्त है। वहाँ प्राणपीड़क और प्राणपोषक मिलकर प्राणपोषक बनते हैं; यहाँ प्राणपोषक ही दोनों द्रव्य परिमाण व मात्रा के नियम से प्राणनाशक हो जाते हैं। भारतीय ज्ञान-धारा में भी तथा प्रकार के परिवर्तनमूलक उदाहरणों की कमी नहीं है। भारतीय दार्शनिकों का विरोध सहज व संयोग वियोगात्मक परिवर्तन में नहीं, उनका विरोध तो असद् की उत्पत्ति में है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चाहे यह कहते रहें कि गुणात्मक परिवर्तन हम उसे ही कहते हैं जहाँ असद् पैदा होता है, पर भारतीय दार्शनिकों ने तो यह बात कब ही सिद्ध करके छोड़ दी है कि सारे परिवर्तन अनन्त धर्मात्मक वस्तु के ही सहज धर्म हैं, जिनके उत्पाद व नाश देश, काल आदि नाना अपेक्षाओं पर निर्भर हैं। चैतन्य जैसी वस्तु जड़धर्मा न कभी हुई, न कभी हो सकती है। जड़ से चैतन्य पैदा होने की बात अरूप शून्य से घटादि सरूप पदार्थ के पैदा होने की-सी बात है। अरूप और सरूप का, जड़ और चैतन्य का आत्यन्तिक विरोध है।

प्रतिषेध का प्रतिषेध—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इस रचना कार्य की तीसरी सीढ़ी प्रतिषेध का प्रतिषेध है। इसकी परिभाषा विषय के प्रारम्भ में ही बता दी गई है जो आत्मा के सम्बन्ध में गुणात्मक परिवर्तन की तरह ही अयथार्थ है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की त्रिपदी के समझने वालों के लिये आत्मोत्पाद के विषय को लेकर द्वन्द्वात्मक त्रिपुटी बहुत साधारण बात है। समाज, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था आदि विषयक परिवर्तनशीलता को उक्त त्रिपुटी के नियमों से आबद्ध करने का प्रयत्न केवल मार्क्सवाद का अभिमत आग्रह ही माना जा सकता है। मार्क्सवाद की ओर आज की पीढ़ी का बढ़ता हुआ आकर्षण उसकी दार्शनिक यथार्थता का

परिणाम् नहीं अपितु भूखे और नंगे मानव को दिये गये रोटी व कपड़े के तात्कालिक प्रलोभन का प्रतिफल है। किन्तु यह भ्रान्ति और अधिक दिनों तक ठहरने की नहीं कि रोटी व कपड़े का समान वितरण करने वाले दर्शनाभास की सारी दार्शनिक बातें भी यथार्थ हैं।

विकासवाद व द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सहारे वैज्ञानिक भी आत्मा के विषय में किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँच गये हों ऐसी बात नहीं। भौतिक जगत् में चैतन्य एक रहस्यपूर्ण सत्ता पहले भी थी और अब भी है। किन्तु आत्मा के जिस पहलू पर दर्शन व विज्ञान नितान्त प्रतिकूल दिशा के पथिक थे, आज विज्ञान की नई मोड़ ने दोनों को बहुत कुछ समीप ला दिया है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के शब्दों में कहें तो "दर्शन और विज्ञान की सीमा रेखा जो एक प्रकार से निकम्मी हो चुकी थी, वैचारिक पदार्थ विज्ञान (थियोरेटिकल फिजिक्स) के निकट भूत में होने वाले विकास के कारण अब वही सीमा रेखा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक बन गई है[1]।"

स्थिति यह है कि विज्ञान जिस प्रकार अपनी बालोन्नित चपलता से अपनी सफलताओं पर गर्व करता आगे बढ़ा चला आ रहा था, विगत शताब्दी के बाद जो उसके सामने प्रकृति का रहस्य आया, उसे कुछ समय के लिये भौंचक रह जाना पड़ा। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में मैक्स प्लैङ्क का क्वान्तम सिद्धान्त (Quantum Theory) वैज्ञानिक जगत् के सामने आया और उसने रेडियेसन के विषय में जो नया तथ्य उपस्थित किया वह यान्त्रिक युग अर्थात् यह संसार यन्त्र की तरह संघटित है, विज्ञान की इस बद्धमूल धारणा को समाप्त कर एक नये युग का स्रष्टा सिद्ध हुआ[2]।

---

1. Border-land territory between Physics and Philosophy which used to seem so dull, but suddenly became so interesting and important through recent developments of theoretical Physics.

—*Physics & Philosophy, Preface.*

2. Then, in the closing months of the century, Professor Max Planck of Berlin brought forward a tentative explanation of certain phenomena of radiation which had so far completely defied interpretation. Not only was his explanation non-mechanical in its nature; it seemed impossible to connect it up with only mechanical line of thought. Largely for this reason, it was criticised, attacked and even ridiculed. But it proved brilliantly successful and ultimately developed into the modern "quantum theory" which formed one of the great dominating principles of modern Physics. Also although this was not apparent at the time, it marked the end of the mechanical age in science, and the opening of a new era.

वैज्ञानिक जगत् में दूसरा महा आविष्कार प्रो० आईस्टीन का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त सापेक्षवाद (Theory of Relativity) माना जाता है। कहना चाहिये कि इस सिद्धान्त ने तात्कालिक विज्ञान का कायापलट ही कर दिया। इसने ईथर, गुरुत्वाकर्षण आदि की चिरप्रचलित मान्यताओं को चुनौती देकर हर एक तथ्य को अपेक्षा दृष्टि से परखने की यथार्थता दी।

तीसरी विस्मयोत्पादक घटना वैज्ञानिकों के सामने परमाणु विभाजन की हुई। इससे उन्हें पता चला कि जिसे हम परम-अणु अर्थात् अन्तिम इकाई माने बैठे थे, उस तथाकथित परमाणु में ऋणाणु (Electron) व धनाणुओं (Patron) का गतिशील सौर परिवार अवस्थित है। अस्तु, इन महान् अप्रत्याशित परिवर्तनों के सामने आते ही वैज्ञानिकों को ऐसा लगा "विज्ञान अभी तक परम वास्तविकता से बहुत परे है[1]।" इतना ही नहीं, उन्होंने माना कि इस सदी का सर्वोत्कृष्ट आविष्कार ही यही है कि "अभी तक हम चरम सत्य के समीप नहीं हैं[2]।" "पदार्थ वैसे नहीं हैं जैसे हम देखते हैं[3]।"

सच बात तो यह है कि विज्ञान की इस करवट में वैज्ञानिकों का गर्व चूर-चूर हो गया। उन्हें अपनी अल्पज्ञता सामने दीखने लगी। किसी विराट् ज्ञाता का ख्याल होने लगा। आईंस्टीन के शब्दों में कहें तो "हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं, पूर्ण सत्य तो कोई सर्वज्ञ ही जान सकता है[4]।" अब देखना यह है कि इन मौलिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप आत्मा सम्बन्धी धारणाओं में क्या नया उन्मेष हुआ। प्रचलित विज्ञान के दो पहलू हैं—प्रायोगिक (Practical) व वैचारिक (Theoretical)। प्रायोगिक विज्ञान इस दिशा का विषय नहीं बन सकता। हालांकि प्रयोग के आधार पर नवीन जीव विज्ञान की सृष्टि हुई है, किन्तु उसको हमें शरीर विज्ञान का ही दूसरा पहलू समझना चाहिये। थियोरेटिकल साइंस में वैज्ञानिक इस दिशा में जहाँ तक पहुँचे हैं, वह अवश्य मनन का विषय है। चैतन्य जैसे तत्त्व का श्रीगणेश कैसे हुआ? यह वैज्ञानिकों के सामने प्रमुख प्रश्न था। नाना समाधान सोचे गये, पर वे सारे निष्कर्ष इस बात की ओर संकेत करते थे कि चेतना अकस्मात् किसी संयोग से पैदा हो गई हो या अकस्मात् किसी अन्य आकाशीय पिण्ड से टपक पड़ी हो, ऐसी बात नहीं है किन्तु अब वैज्ञा-

---

1. Science is not in contact with ultimate reality.
—*Mysterious Universe, p-111.*

2. We are not yet in contact with ultimate reality.

3. Things are not what they seem.

4. We can only know the relative truth, but absolute truth is known only to the universal observer.

नेकों को स्पष्ट लगने लगा है "संसार में हम ऐसे अजनबी व अचानक आ धँसने वाले तो नहीं हैं, जैसा हमने पहले सोचा था[1]।" आगे वे कहते हैं, "आज हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि किसे पता है कि ज्ञान की सरिता अब भी आगे चलकर कितने मोड़ खा लेगी। अतः हम कह सकते हैं कि अब तक हमने जो कुछ कहा है, लिखा है, विशेषरूप से रेखांकित किया है, वह सब कल्पना की उड़ान व अनिश्चित है[2]।" अस्तु; उपर्युक्त शब्दों से हम सहज ही जान सकते हैं कि वैज्ञानिक अपने निर्णयों में निष्ठा शून्य होते जा रहे हैं। सर जेम्स जीन्स अपनी दर्शन और पदार्थ विज्ञान पुस्तक के उपसंहार में लिख देते हैं, "विज्ञान के उन्नीसवीं शताब्दी तक के बहुत सारे निर्णय रद्दी के कटाह (Melting pot) में आ गये हैं[3]।" अस्तु; यह ऐसी बात नहीं है कि कोई एक आध ही छूटक वैज्ञानिक जड़वादी जगत् में अध्यात्मवाद की बात कहने लगा हो बल्कि वस्तुस्थिति और भी आगे बढ़ गई है।

विभिन्न वैज्ञानिकों के आत्मा-विषयक विचार

"मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है[4]।"

—प्रो० अलबर्ट आईस्टीन

"कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही है, हम नहीं जानते वह क्या है?... मैं चैतन्य को मुख्य मानता हूँ, भौतिक पदार्थ को गौण। पुराना नास्तिकवाद अब चला गया है। धर्म आत्मा और मन का विषय है और वह किसी प्रकार से हिलाया नहीं

---

1. We are not so much strangers or intruders as we at first thought.

—*Mysterious Universe, p. 138.*

2. So at least we are tempted to conjecture today, and yet who knows, how many more times the stream of knowledge may turn on itself ?........What might have been interlined into every paragraph that every thing that has been said, and every conclusion that has been tentatively put forward is quite frankly speculative and uncertain.

—*Mysterious Universe, p. 138.*

3. Many of the former conclusions of nineteenth century science are once again in the melting pot.

—*Physics & Philosophy, p. 217.*

4. I believe that intelligence is manifested throughout all nature.

—*The Modern Review of Calcutta, July 1936.*

जा सकता[1]।"

—सर ए० एस० एडिंग्टन

"आजकल सामञ्जस्य का विस्तृत मानदण्ड प्रस्तुत हुआ है कि ज्ञान की सरिता अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर वह निकली है। अब विश्व यन्त्र की अपेक्षा विचार के अधिक समीप लगता है। मन ऐसी चीज नहीं लगती जो जड़ की दुनिया में कहीं से अकस्मात् टपक पड़ी हो[2]।" —सर जेम्स जीन्स

"गुरु, धर्म-गुरु, बहुत सारे दार्शनिक प्राचीन हों चाहे अर्वाचीन, पश्चिम के हों या पूर्व के, सब ने अनुभव किया है कि वह अज्ञात या अज्ञेय तत्त्व वे स्वयं ही हैं[3]।"

—हर्बर्ट स्पेन्सर

"सारे प्राणी जगत् में ऐसी प्रक्रियाएँ हैं, जो कि अपने मन से कुछ सम्बन्धित हैं। अमीवा से लेकर एक आन्तरिक और वैयक्तिक (Subjective) जीवन का झरना बहता है। कहीं-कहीं वह पतला स्रोत है और कहीं-कहीं वह बलवान् भी है। भावनाएं कल्पनाएँ और हेतु सारी प्रवृत्तियाँ उसके अन्तर्गत हैं। बेसुध अवस्था भी उसके अंतर्गत है[4]।" —सर जे० ए० थोमसन

---

1 Something unknown is doing we do not know what......I regard consciousness as fundamantal. I regard matter as derivative from consciousness........The old atheism is gone. Religion belongs to the realm of the spirit and mind, and cannot be shaken.

—*The Modern Review of Calcutta, July 1936.*

2. Today there is a wide measure of agreement, that the stream of knowledge is heading towards a non-mechanical reality. The Universe begins to look more like a great thought than like a great machine. Mind no longer appears as an accidental intruder into the realm of matter.

—*Mysterious Universe, p. 137.*

3. The teachers and founders of the religion have all taught, and many Philosophers ancient and modern, western and eastern have percieved that this unknown and unknowable is our very self.

—*First Principles, 1900.*

4. Throughout the world of animal life there are expressions of something akin to the mind in ourselves. There is from Amoeba upwards a stream of inner, and subjective life. It may be only a slender rill, but sometimes it is a strong current. It includes feeling, imagining, purposing. It includes unconscious.

—*The Great Design.*

"सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्त्व जड़ (Matter), बल (Force) या भौतिक पदार्थ (Physical thing) नहीं है किन्तु मन और चेतना ही है[1]।"

—जे० बी० एस० हेल्डन

"एक निर्णय जो कि बताता है···मृत्यु के बाद आत्मा की सम्भावना है। ज्योति काष्ठ से भिन्न है·· काष्ठ तो थोड़ी देर उसे प्रकट करने में ईन्धन का काम करता है[2]।"

—आर्थर एच० काम्पटन

"वह समय अवश्य आयेगा जब कि विज्ञान द्वारा अज्ञात विषय का अन्वेषण होगा। विश्व जैसा कि हम सोचते थे उससे भी कहीं अधिक उसका आध्यात्मिक अस्तित्व है। वास्तविकता तो यह है कि हम उस आध्यात्मिक जगत् के मध्य में हैं जो भौतिक जगत् से ऊपर है[3]।"

—सर ऑलीवर लॉज

जैसे मनुष्य दो दिन के बीच की रात्रि में स्वप्न देखता है वैसे ही मनुष्य की आत्मा मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच विश्व में विहार करती है[4]।

—सर ऑलीवर लॉज

दि ग्रेट डिजायन एक पुस्तक है; जिसमें दुनियां के प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपनी सामूहिक राय दी है। इस पुस्तक में स्पष्टरूपेण यह विचार सामने रखा गया है कि "यह दुनियां बिना रूह की मशीन नहीं है, यह इत्तफाक ही से यों ही नहीं बन

---

1. The truth is that, not matter, not forces, not any physical thing, but mind, personality is the central fact of the Universe.

—*The Modern Review of Calcutta, July 1936.*

2. A conclusion which suggests.........the possibility of consciousness after death.........the flame is distinct from the log of wood which serves it temporarily as fuel.

—*Arthur H. Compton.*

3. The time will assuredly come when these avenues into unknown region will be explored by science. The Universe is a more spiritual entity than we thought. The real fact is that we are in the midst of a spiritual world which dominates the material.

—*Sir Oliver Lodge.*

4. The soul of man passes between death and rebirth in this world as he passes through dreams in the night between day and day.

—*Sir Oliver Lodge.*

गई है। मादे के इस परदे के पीछे एक दिमाग, एक चेतना शक्ति काम कर रही है। चाहे हम उसका कुछ भी नाम क्यों नहीं दें।"

"धर्म एक पुराना भ्रम है, वह केवल एक भावावेश है; पर धर्म के विषय में प्रचलित इन कुविचारों की पोल आज के नवीन विज्ञान ने खोल दी है। मानव मस्तिष्क से उक्त असत्य और हानिकारक विचारों को समूल मिटा देने की आज अत्यन्त आवश्यकता है। इनको हटाने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि विज्ञान ही अपने श्रेष्ठ विद्यार्थियों के मुँह से बोले[१]।"

"यह पुराना भौतिकवादी मत है, इसको चाहे तो हैकल का मत कह सकते हैं। मैं आप को यह बताऊँ कि यह मत बहुत ही पुराना और असामयिक है[२]।"

"जड़वाद के जितने भी मत गत बीस वर्षों में रखे गये हैं, वे आत्मवाद के विचार पर आधारित हैं, यही नवीन विज्ञान है[3]।"

"थोड़े समय पूर्व वैज्ञानिक क्षेत्र में नास्तिक होना किसी सीमा तक एक फैशन की बात थी। परन्तु आज जो आदमी अपनी नास्तिकता पर गर्व करता है, उसे बुरा समझा जाता है। उसकी बड़ाई नहीं होती। नास्तिकता फैशन की वस्तु है यह पहले वाला दृष्टिकोण अब नहीं है। इसका श्रेय विज्ञान को है[४]।"

---

1. The suggestion was assiduously conveyed that religion was an outworn superstition, a morbid sentiment, or a phase of hysteria; all of which had been exposed by modern science. These misleading and harmful impressions need to be dispelled. The best way of dispelling them is to let science herself speak through the lips of her chief exponents.

—*Science and Religion, p. 45.*

2. That is an old materialistic school Hecel's school if you like; which, let me tell you, is hopelessly out of date and antiquated.

—*Ibid, p. 93.*

3. And all the theories of matter advanced during the last twenty years are based on a conception—a postulate of non-material. That is the latest belief of science.

—*Ibid, p. 62.*

4. Not very long ago, it was to some extent fashionable in scientific circles to be an Agnostic. But today a man who takes pride in his ignorance is blamed and lionised. The attitude is quite out of fashion. Thanks to the labours of science.

—*Ibid, p. 85-86.*

परन्तु आज इस बात का पक्का प्रमाण मिलता है कि ऐसी भी घटनाएँ होती हैं जो उपर्युक्त नियमों से समझी नहीं जा सकतीं। ऐसी घटनाएँ एक कठिन शब्द के द्वारा व्यक्त की जाती हैं। वह शब्द है साइकिकल (Psychical)। इसका विकास एक ग्रीक शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ है—आत्मा। इन घटनाओं का सम्बन्ध आत्मा से समझा जाता था न कि शरीर से[1]।"

"कुछ ऐसे विद्वानों ने जिनकी मान्यता 'मिटीयोराइट वेहिकल थ्योरी' में है, यह सुझाव दिया है कि जीवन उतना ही पुराना है, जितना कि जड़[2] (Matter)।"

—पी० गेड्डेस

"ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसको केवल पदार्थ-विज्ञान सम्बन्धी नियमों से समझा जा सके। यहाँ तक कि ऐसी साधारण बातें जैसे कि आँसू का निकलना और पसीने की बून्द का गिरना भी पदार्थ-विज्ञान सम्बन्धी नियमों से समझा नहीं जा सकता है[3]।"

—प्रो० डब्ल्यू मेकडूगल

"मेरी राय में केवल एक ही मुख्य वस्तु है जो देखता है, सुनता है, अनुभूति करता है, प्रेम करता है, सोचता है, याद करता है आदि। परन्तु इस मुख्य वस्तु को अपने भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के भौतिक साधनों की

---

1. But today unanswerable proof exists that things do happen which appear to be out side all known Physical class. Such happenings are called by the rather difficult name of Psychical, which came from Greek word meaning the soul. Because such things were formerly supposed to have to do with the soul and not with the body.

2. Some authorities who have found satisfaction in the Meteorite-Vehicle-Theory have also suggested that life is as old as matter.

—*Evolution, p. 70.*

3. For no single organic function has yet been found explicable in purely mechanical terms, even such relatively simple processes as the secretion of the tear or the exudation of a drop of sweat continue to elude all attempts of complete explanation in terms of Physical and Chemical science.

—*Psychology, p. 33-34.*

आवश्यकता पड़ती है[1]।"

—डॉ० गाल

"पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ कैसे हुआ विज्ञान के पास इसका कोई उत्तर नहीं है[2]।"

—जे० ए० थौमसन

उक्त प्रमाणों के आधार पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि अपने क्रमिक विकास में विज्ञान आत्मवादी होता जा रहा है। इस तथ्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि आत्मा के अस्तित्व पर दर्शन व विज्ञान एक होते जा रहे हैं। दर्शन व विज्ञान की यह अभिसंधि विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ देती है। आज जहाँ समाज व्यवस्था में लोकोत्तर पक्ष उपेक्षित रहता है, वहाँ पुनर्जन्म के विषय में निष्ठा का नवजागरण हुआ तो धर्म भी समाज-व्यवस्था के निर्माण में अपना समुचित स्थान ग्रहण करेगा जैसे कि भारतीय संस्कृति व परम्परा में प्राचीनकाल से उसने कर रक्खा है। भारतीय दार्शनिकों ने बताया कि जीवन का परम ध्यये सद् चिद् आनन्द व सिद्ध बुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है। व्यक्ति चाहे गृहस्थ है या सन्यस्त, उसके जीवन की दिशा इस ओर ही होनी चाहिये। विज्ञान के इस नये निर्णय से केवल लौकिक पक्ष का पोषण करने वाली मार्क्सवादी विचारधारा अपने आप ढह पड़ती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इससे संसार में समानता का नारा समाप्त हो जाता है व अर्थवादी दृष्टिकोण अदृष्ट हो जाता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि समानता की मंजिल तक पहुँचने के लिये मनुष्य वर्वर व हिंसानिष्ठ नहीं वनता। अस्तु, इसी प्रकार आज की राजनीति, आज की समाज-व्यवस्था व आज के समस्त वाद-प्रवादों में एक मौलिक परिवर्तन अवश्यंभावी है जव कि वे विज्ञान की इस नवीन तुला पर तोले जायेंगे।

विज्ञान के इन नवीन निर्णयों से आज के तार्किक मानव को यह समझने का

---

1. In my opinion there exists but one single principle which sees, hears, feels, loves, thinks remembers, etc. But this principle requires the aid of various material instruments in order to manifest its respective functions.

—*Dr. Gall.*

2. How did living creatures begin to be upon the earth? In point of science, we do not know.

—*Introduction to Science, p. 142.*

अवसर मिलेगा कि दर्शन की पृष्ठभूमि इतनी कच्ची नहीं जितनी कि विज्ञान की चकाचौंध में उसने समझी थी। भारतीय आप्त-पुरुषों ने जो खोजा, जो पाया, जो कहा; उसके नीचे सत्य व प्रामाणिकता का कोई शाश्वत आधार था। निस्सन्देह आज यह जड़ पर चेतन की, विज्ञान पर दर्शन की व पश्चिम पर पूर्व की सर्वमान्य विजय है।

५

सापेक्षवाद के अनुसार भू-भ्रमण केवल सुविधावाद

सूर्य चलता है या पृथ्वी यह प्रश्न आवालवृद्ध सब में प्रसिद्ध है। इस प्रश्न के सामने आते ही हर एक व्यक्ति के हृदय में जिज्ञासा और कौतूहल भर जाते हैं। इस विषय में आदि से अब तक की मान्यताओं का उतार-चढ़ाव किस प्रकार होता रहा है, यह इस प्रस्तुत निवन्ध का विषय है।

जैन-आगम

जहाँ तक धर्म शास्त्रों का प्रसंग है प्रायः सभी धर्म शास्त्र एक स्वर हैं—पृथ्वी स्थिर है, सूर्य चर है; चाहे वे धर्म शास्त्र पूर्व व पश्चिम की सीमा में ही क्यों न रहे हों। जैन आगम सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र में सूर्य की चरता का स्पष्ट प्रमाण है। वहाँ गौतम मुनि ने भगवान श्रीमहावीर से प्रश्न किया, "भगवन्[1]! सूर्य अभ्यन्तर मण्डल से निकल कर सबसे अन्तिम मण्डल में जाता है तथा अन्तिम मण्डल से निकल कर अभ्यन्तर मण्डल में चलता है; तव यह समय कितने रात-दिन का होगा?" भगवान महावीर ने कहा, "यह समय ३६६ रात्रि-दिन का होगा।" अगला प्रश्न इससे भी अधिक सूर्य की गति की ओर संकेत करता है। वहाँ पुनः पूछा गया—"भगवन्[2]! पूर्वोक्त समय में सूर्य कितने मण्डलों में चलता है; एक वार कितने मण्डलों में चलता है और दो वार कितने मण्डलों में चलता है?" भगवान् ने कहा, "सामान्य प्रकार से सूर्य १८४

---

१. ता जया णं ते सूरिए सव्वब्भंतरातो मंडलातो सव्ववाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, सव्ववाहिरातो मंडलातो सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, एस णं अद्धा केवतियं रातिदियग्गेणं आहितेत्ति वदेज्जा? ता तिण्णि छायट्ठे रातिदियसए राति दियग्गेणं आहितेति वदेज्जा। —सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र, पहला पाहुडा, सूत्र ९।

२. ता एताए अद्धाए सूरिए कति मंडलाइं चरति? कति मंडलाइं दुक्खुत्तो-चरति? कति मंडलाइं एगक्खुत्तो चरति? ता चुलसीयं मंडलसतं चरति, वासीति तं मंडलसतं दुक्खुत्तो चरति, तंजहा, णिक्खमाणे चेव पवेसमाणे चेव, दुवे य खलु मंडलाइं सइं चरति, तंजहा—सव्वब्भंतरं चेव मंडलं सव्ववाहिरं चेव मंडलं॥

—सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र, पहला पाहुडा, सूत्र १०।

मण्डलों में चलता है, जिसमें १८२ मण्डलों में सूर्य दो बार चलता है और प्रथम व अन्तिम मण्डलों पर एक-एक बार चलता है।"

भगवती[1] सूत्र की वृत्ति में बताया गया है—"जैसे-जैसे सूर्य आगे बढ़ता है पिछले देशों में रात्रि होती जाती है और आगे वाले देशों में दिन। इस प्रकार देश-भेद के कारण उदयास्त का काल-भेद होता है।"

श्री मण्डल[2] प्रकरण में तो सूर्य की गति व क्षेत्र-भेद के कारण जो काल भेद होता है उसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। "सूर्योदय के प्रथम प्रहर से लेकर रात्रि के चतुर्थ प्रहर तक का समस्त समय मेरु पर्वत की चारों ओर पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में एक साथ उपलब्ध होता है। जैसे—भरत क्षेत्र में जिस स्थान पर सूर्य उदित होता है उससे दूर तर पिछले लोकों के लिये वह अस्तकाल है और उस उदय स्थान के अधस्तन लोकों के लिये उस समय मध्याह्न काल है। ऐसे किन्हीं लोकों के लिये प्रथम प्रहर, किन्हीं के लिये द्वितीय प्रहर, किन्हीं के लिये मध्य रात्रि और किन्हीं के लिये संध्या आदि अष्ट प्रहर सम्बन्धी काल एक साथ मिलता है।"

वेद

अथर्ववेद में कहा गया है—"सूर्य[3] द्युलोक और पृथ्वी में चारों ओर घूमता है। इसी प्रकार अथर्ववेद के अन्य स्थानों पर सूर्य को घूमते हुए रात-दिवस का विभा-

---

१. जह जह समये पुरओ संचरई भक्खरो गगणे।
तह तह इओवि नियमा जायइ रयणीइ भावत्थो ॥१॥
एवं च सइ नराणं उदयत्थमणाइं होति नियमाई।
सइ देश काल भेए कस्सइ किंचिवि दीस्सए नियमा ॥२॥

—भगवती वृत्ति श० ५, उ० १।

२. पढमपहराइ काला जम्बूदीवम्मि दोसु पासेसु।
लब्भंतिएग समयं तहेव सव्वत्थ नर लोए ॥६५॥

प्रथम प्रहरादिका उदयकालादारभ्य रात्रेश्चतुर्थ यामान्तं कालं यावन्मेरोः समन्तादहोरात्रस्य सर्वे कालाः समकालं जम्बूद्वीपे पृथग्-पृथग् क्षेत्रे लभ्यन्ते। भावना यथा भारते यतः स्थानात् सूर्य उदेति तत्पाश्चात्यानां दूरतराणां लोकानामस्तकालः। उदयस्थानादधोवासिनां जनानां मध्याह्नः, एवं केषाञ्चित् द्वितीय प्रहरः, केषाञ्चित् तृतीय प्रहरः, क्वचिन्मध्यरात्रः, क्वचित्संध्या, एवं विचारणयाष्टप्रहरसम्बन्धीकालः समकं प्राप्यते। तथैव नरलोके सर्वत्र जम्बूद्वीपगतमेरोः समन्तात् सूर्यभ्रमणेनाष्टप्रहर काल सम्भावनं चिन्त्यम्। —श्री मंडल प्रकरण टीका।

३. यत्र मे द्यावापृथ्वी सद्यः पर्येतिसूर्यः —अथर्ववेद।

जक[1] 'बताया गया है; तथा 'पृथ्वी[2] ध्रुव है,' 'द्यु[3] और पृथ्वी स्थिर है' का निरूपण किया गया है। ऋग्वेद में 'पृथ्वी[4] स्थिर है' 'सूर्य[5] अपनी युक्ति से गमन करता है' कहकर पृथ्वी की स्थिरता व सूर्य की गति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद में पृथ्वी को ध्रुव[6], स्थिर और सूर्य को गतिशील[7] बताकर इसी अभिमत की पुष्टि की गई है। वेदों के आधार पर रचे जाने वाले पातञ्जल[8] महाभाष्य, शतपथ-ब्राह्मण,[9] योगदर्शन[10] आदि ग्रन्थों में भी पृथ्वी की स्थिरता व सूर्य की चरता पर ही बल दिया गया है। इसी प्रकार बाइबिल, कुरान आदि पृथ्वी के स्थिरवाद सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

जब ज्योतिष और गणित के विकास का युग आया तब भी ज्योतिषाचार्यों एवं गणिताचार्यों ने तार्किक पद्धति से इस विषय में सोचना प्रारम्भ किया। वहां भी वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध गणिताचार्य प्रायः इस विषय में एकमत रहे। इस बीच में आर्यभट्ट, जिनका जन्म वि० संवत् ५३३ (सन् ४७६) है, आदि कुछ आचार्यों ने पृथ्वी को चर बताया। भारतवर्ष में वह युग भी इस विषय के खण्डन-मंडन का रहा। स्थिरवादी आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में पृथ्वी की स्थिरता का निरूपण तो किया ही, साथ ही साथ उन्होंने चरवाद का भी डटकर खण्डन किया। श्री वराहमिहिर (वि० सं० ५६२) कहते हैं—"कुछ लोग[11] कहते हैं, पृथ्वी चर है और तारक समुदाय स्थिर है। यदि ऐसा है तो अपने

१. दिवं च सूर्यः पृथ्वीं च देवीमहोरात्रे विभजमानो यदेपि —अथर्ववेद—१३-२-५।
२. पृथ्वी ध्रुवा —अथर्ववेद—६-८९-९।
३. स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः —अथर्ववेद—१०-८-२।
४. पृथिवी वितस्थे —ऋग्वेद—१-७२-९।
५. ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः —ऋग्वेद—१-५०-९।
६. (क) ध्रुवा, स्थिरा धरित्री —यजुर्वेद—१४-२२।
   (ख) ध्रुवासि धरित्री ध्रुवा स्थिरा सति धरित्री भूमिरूपा चासि सति। —सायणभाष्य।
७. हिरण्मयेन सविता रथेनदेवो याति भुवनानि पश्यन् —यजुर्वेद—३३-४३।
८. (२-१२३)
९. (६, ५, २-४)
१०. (३-११ सूत्र)
११. भ्रमति भ्रमस्थितेव क्षितिरित्यपरे वदन्ति नोडुगणः।
    यद्येवं श्येनादयो न खात् पुनः स्वनिलयमुपेयुः॥
    —पंच० सि० अ० १२, श्लोक ६।

घोंसले को छोड़कर आकाश में उड़ने वाले पक्षी एक अवधि के पश्चात् अपने घोंसले पर कैसे आ जाते हैं ?" श्री लल्लाचार्य लिखते हैं—"यदि[1] पृथ्वी घूमती है तो पक्षी गण अपने घोंसलों पर कैसे आते हैं ? आकाश में फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यों नहीं हो जाते या पूर्व और पश्चिम में वे विषम गति क्यों नहीं रखते हैं ? यदि पृथ्वी की गति मन्द है इसलिये ऐसा होता है तो केवल एक दिन-रात में उसका परिभ्रमण कैसे हो जाता है ?" श्रीपति कहते हैं—"यदि[2] पृथ्वी तीव्र वेग से घूमती होती तो उस पर इतनी प्रचण्ड वायु चलती कि जिससे प्रासाद, पर्वत की चोटियाँ आदि कुछ भी पदार्थ नहीं ठहर सकते और समस्त ध्वजाएँ सदा के लिये पश्चिम-गामिनी होतीं ।"

स्थिरवादियों ने चरवादी सिद्धान्तों का जैसे खण्डन किया उसी प्रकार चरवादियों द्वारा दिए गए तर्कों का भी उन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से समाधान किया । जब उनके सामने यह तर्क आया कि पृथ्वी आकाश में निराधार स्थित कैसे है, तब उन्होंने बताया—जैसे सूर्य[3] और अग्नि में उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता, जल में द्रवता, प्रस्तर में कठोरता, पवन में चरता स्वाभाविक है, उसी प्रकार पृथ्वी स्वभावतः अचला है, क्योंकि वस्तु शक्ति विचित्र हुआ करती है ।" जैनाचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में भू-भ्रमण के सिद्धान्त को अप्रमाणित सिद्ध करते हुए लिखते हैं—"भू-भ्रमण का सिद्धान्त प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि हर एक व्यक्ति को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है । स्थिरता की अनुभूति सर्व देश काल में समस्त पुरुषों को समान रूप होने से भ्रान्तियुक्त नहीं कही जा सकती । अनुमान प्रमाण से भी भू-भ्रमण का कोई निश्चय नहीं होता, क्योंकि उस प्रकार का कोई भी अविनाभाव लक्षण हमें दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है । यदि ऐसा कहा जाये कि तारक समूह स्थिर है फिर भी पृथ्वी पर दिन-रात, उदय-अस्त आदि काल-भेद

---

१. यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः ?
इषवोऽपि नभः-समुज्झिताः निपतन्तः खलाम्पतेर्दिश ॥४२॥
पूर्वाभिमुखे भ्रमे भुवो वरुणाशाभिमुखो व्रजेद्घनः ।
अथ मंदगमात्तदा भवेत्कथमेकेन दिवा परिभ्रमः ॥४३॥
—शि० वृ० गोलाध्याय ।

२. भूगोल वेग जनितेन समीरणेन प्रासाद भूधर शिरांस्यपि सम्पतेयुः ।
भूगोल वेग जनितेन समीरणेन केत्वादयोऽप्यपर दिग्गतयः सदा स्युः ॥

३. यथोष्णतार्कानलयोश्च, शीतता विधौ, द्रुतिः के, कठिनत्वमश्मनि ।
मरुच्चलो, भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा बत ! वस्तु-शक्तयः ॥
—सिद्धान्त-शिरोमणि, गोलाध्याय, श्लोक ५ ।

देखे जाते हैं, यही पृथ्वी के चलने में अविनाभावी लक्षण है ; यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि यह प्रमाण बाधित बात है। 'इससे तो यह सिद्ध हुआ कि कोई कहे कि उष्ण होने से अग्नि द्रव्य है पर उसे यह भी मानना होगा कि शीत होने से जलादि भी द्रव्य है। अतः फलित यह हुआ कि उष्णता की तरह शीतलता भी द्रव्यत्व सिद्धि का हेतु हो सकती है। इसी प्रकार ज्योतिपचक्र के घूमने से और पृथ्वी के स्थिर होने से भी उदय, अस्त आदि की प्रतीति हो सकती है [1]।"

पाश्चात्य जगत् की नवीन खोजों से पूर्व भारतवर्ष के भू स्थिरवादियों का एक छत्र साम्राज्य रहा। भू-भ्रमणवादी भू-भ्रमण के सम्बन्ध में आने वाले तर्कों के समाधान में असफल रहे और इसीलिये भू-भ्रमण का सिद्धान्त इस देश में पनप नहीं पाया। भू-स्थिरवादियों के सामने उस समय जो तर्क थे वे उनका समुचित समाधान देते थे।

पश्चिमी जगत्

पाश्चात्य देशों में भी जहाँ तक बाइबिल आदि धर्म ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें भी कट्टरता से पृथ्वी को स्थिर ही स्वीकार किया गया है। बहुत सारे ज्योतिषी और गणिताचार्य भी इसी अभिमत की पुष्टि करते रहे, जिनमें अरस्तू और टालमी के नाम उल्लेखनीय हैं। १६वीं शताब्दी में सर्वप्रथम कोपरनिकस (Copernicus) ने पृथ्वी को चर बताया और सूर्य को स्थिर। ज्योतिर्मण्डल को सर्वप्रथम दूरवीक्षक यन्त्र से देखने वाले गेलेलिओ ने इस अभिमत की विभिन्न-प्रमाणों से पुष्टि की। पश्चिमी जगत् में उसकी यह आवाज़ दूर-दूर तक पहुँची भी थी, परन्तु पोप लोगों ने इस सिद्धान्त को धर्म विरुद्ध व बाइबिल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलेलिओ को बहुत-सी राजकीय यातनाएँ भोगनी पड़ीं ; पर यह सिद्धान्त रुका नहीं। पृथ्वी को चर मान लेने से जो-जो प्रश्न पैदा हो रहे थे, क्रमशः उन सब का समाधान प्रस्तुत किया जाने लगा। पृथ्वी की दैनिक व वार्षिक गति २३½° डिग्री झुकी हुई होना, इसके चारों ओर एक सतत वायुमण्डल की परिकल्पना और

---

१. नहि प्रत्यक्षतो भूमेर्भ्रमणनिर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात् । नचायं भ्रान्तः सकलदेशपुरुषाणां तद् भ्रमणाप्रतीतेः । कस्यचिन्नवादि स्थिरत्वानुभवस्तु भ्रान्तः परेषां तद्भवानुभवेन बाधनात् । नाप्यनुमानतो भूभ्रमणविनिश्चयः कर्तुं सशकः तदविनाभाविलिंगाभावात् । स्थिरे भचक्रे सूर्योदयास्तमयमध्याह्नादि भूगोल भ्रमणे, अविनाभावि लिंगमितिचेन्न, तस्य प्रमाणबाधितविषयत्वात् पावकानौष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत् । भचक्र भ्रमणे सति भूभ्रमणमन्तरेणापि सूर्योदयादि प्रतीत्युपपत्तेश्च ।

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिका अध्याय ४।

गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त आदि निरूपणों ने भू-भ्रमण सिद्धान्त को पूरी तरह पुष्ट कर दिया। अर्थात् प्राचीनकाल के जो तर्क थे कि यदि पृथ्वी घूमती है तो आकाश में उड़ने वाले पक्षी घोंसलों पर कैसे आ जाते हैं, पृथ्वी पर की सारी वस्तुएँ वेग जनित प्रचण्ड वायु से नष्ट-भ्रष्ट क्यों नहीं हो जातीं, ध्वजादि उसी वेगजन्य वायु से एक ही दिशा में क्यों नहीं उड़तीं—आदि प्रश्नों में कुछ प्रश्नों का समाधान वायुमण्डल की परिकल्पना से किया गया। पक्षी, तीर, वायुयान आदि जो भी पदार्थ पृथ्वी से ऊपर उठ कर अपनी एक गति करते हैं; उसी समय उस वायुमण्डल के अन्तर्गत रहने से पृथ्वी के समान दूसरी गति उनकी सहज सम्पन्न हो रही है। जैसे रेल के डिब्बे में एक मक्खी उड़ रही है। डिब्बे के वायुमण्डल में इधर-उधर उड़ना उसकी अपनी एक गति है और रेल जिस गति (Speed) से दौड़ रही है, वह उसकी सहज गति है। इस प्रकार आकाश में फेंका गया तीर पुनः पृथ्वी पर ही आता है। समुद्र नदी आदि तरल पदार्थ पृथ्वी पर ठहर रहे हैं, इन सब में पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण ही हेतु है और पृथ्वी जो आकाश में निराधार रह रही है वह सूर्यादि अन्य ग्रहों के आकर्षण का ही परिणाम है। जब पृथ्वी समान रूप से गति करती हुई वर्ष भर में सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओं का परिवर्तन कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में यह कल्पना की गई कि वह अपनी धूरी पर २३½° डिग्री झुकी हुई चल रही है। इसी से उत्तरायण, दक्षिणायण व ऋतुपरिवर्तन सम्पन्न होते हैं। अस्तु-क्रमशः यह सिद्धान्त विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ राजमान्य हुआ और प्रत्येक पाठशाला का पाठ्य विषय बना। धीरे-धीरे पश्चिम की मर्यादा को लाँघकर यह पूर्व में भी उसी प्रकार जन-जन की जानकारी में आया।

स्फुट अन्वेषण

भू-भ्रमण का सिद्धान्त जब शासक लोगों द्वारा सब प्रकार से बढ़ावा पाने लगा, तब सूर्य-भ्रमण का सिद्धान्त लोगों के वैयक्तिक अन्वेषण का विषय बन गया। समय-समय पर व्यक्तिगत रायें जनता के सामने आती रही हैं। सन् १९४८ की मई २ को प्रकाशित 'The Sunday News of India' नामक पत्र में हेनरीफॉस्टर द्वारा लिखे गये 'How Round is the Earth' शीर्षक लेख में बताया गया है—"पृथ्वी चपटी है इसे प्रमाणित करने के लिये कितने मनुष्यों ने वर्षों के वर्ष लगा दिये किन्तु थोड़ों ने विलियम् एडगल जितना उत्साह दिखाया होगा। एडगल ने ५० वर्षों तक संलग्न चेष्टा की। वे रात के समय आकाश का निरीक्षण करते थे। वे कभी बिछौने पर नहीं सोते थे। कुर्सी पर बैठे-बैठे ही सारी रातें बिताते थे। उन्होंने अपने बगीचे में एक लोहे का नल गाड़ रखा था जो ध्रुव तारे के सम्मुख था। उन्होंने अपने उत्साह भरे निरीक्षण के पश्चात् यह निर्णय दिया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है। इसके

चारों ओर सूर्य उत्तर से दक्षिण घूमता है, ध्रुव तारा केवल ५००० मील दूर है और सूर्य का व्यास केवल १० मील है[1] ।"

ऐस्ट्रोलोजिकल मैगेजिन के सन् १९४६ जुलाई और अगस्त के अंकों में जे० मेकडोनल्ड द्वारा लिखित 'क्या पृथ्वी चपटी है ?' शीर्षक लेख दो भागों में प्रकाशित हुआ। भू गोल है इस सिद्धान्त का वहाँ बहुत सारे वैज्ञानिक प्रमाणों से खण्डन किया गया है। पृथ्वी को थाली के आकार का मानकर आज के विश्व व सृष्टि के अन्य नियमों की संगति बैठाई गई है। चूँकि प्रस्तुत लेख का विषय भू-भ्रमण का है; अतः इसी सम्बन्ध में यहाँ उस लेख की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—"सूर्य की गोलाकार और निरन्तर गति हर तरह से प्रयोगों द्वारा दिखाई जा सकती है। सूर्य गति करता है। यह सिद्धान्त कि पृथ्वी अपनी धुरी पर १००० मील प्रति घण्टे की रफ्तार से चलती है, हास्यास्पद है[2] ।" इस प्रकार भारतवर्ष में और भारतवर्ष के बाहर तथा प्रकार के स्फुट विचार इस सम्बन्ध में रखे जाते रहे हैं। पी० एल० ज्योग्राफी आदि ग्रन्थ भी भारतीयों द्वारा लिखे गये, जिनमें भू-भ्रमण सम्बन्धी समस्त पहलुओं पर तार्किक विश्लेषण किया गया है।

एक समीक्षा

स्थिति यह थी कि गुरुत्वाकर्षण, वायुमण्डल आदि पूरक सिद्धान्तों की कल्पना कर लेने पर भी भू-भ्रमणवाद के सामने कुछ प्रश्न ज्यों के त्यों खड़े ही रह जाते थे, जिनके समाधान सन्तोषजनक सामने नहीं आ रहे थे। उदाहरणार्थ—ध्रुव तारा उत्तर

---

1. Many people have spent years trying to prove that the earth is flat, but few have revealed such zeal as the late William Edgell of Midsomer Norton, Somerset. Edgell strove for over 50 years in order to study the night skies, he never went to bed but slept in a chair. Also he created still tube in his garden pointing towards the Pole star which was visible through it. This eccentric man eventually evolved the theory of a flat, basin shaped earth with the Sun moving north and south across it. He contented that the pole star was only 5000 miles away and that the sun was only 10 miles in diameter.

—*The Sunday News of India, May 2nd 1948.*

2. The Concentric and progressive motion of the Sun over the Earth is in every sense practically demonstrable. The earth like all other planets floats in space. The Sun moves and is the centre of our (Known) universe. The idea that the earth moves on its axis at the rate of 1000 miles an hour is ridiculous.

में स्थित है और हमेशा वह उत्तर में रहता है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार वह भी स्थिर है और पृथ्वी भी स्थिर है इसलिये ऐसा घटित होता है। पृथ्वी को भ्रमणशील मान लेने से ध्रुवतारा को एक स्थान पर स्थित नहीं रहना चाहिये, यह बात एक बालक भी समझ सकता है। जब पृथ्वी के घूमने मात्र से स्थित सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ हमेशा दृष्टिगोचर होता है तो उत्तर की ओर रहा ध्रुवतारा निश्चल कैसे दीख सकता है ? आधुनिक भू-भ्रमणवादी इसका सामाधान करते हैं कि वह पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव (North pole) की समश्रेणी में स्थित है, इसलिये पृथ्वी के पूर्व पश्चिम सम्बन्धी परिभ्रमण में पृथ्वीवासियों के लिये ध्रुव तारे की स्थिति समान ही रहेगी। यह समाधान पूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पृथ्वी १००० मील प्रति घण्टा के हिसाब से अपनी धूरी पर घूम रही है तो लगभग १२ घण्टा के पश्चात् पृथ्वी का एक भाग बिल्कुल दूसरी ओर हो जायेगा। अर्थात् वह पृथ्वी के व्यास की दृष्टि से आठ हजार मील स्थानान्तरित होगा। ८००० मील की दूरी से हम ध्रुवतारा को देखें और आज के युग में जब कि बाल की खाल निकालने जैसी बारीकी को पकड़ने वाले साधन आविष्कृत हो चुके हैं, ध्रुवतारा ज्यों का त्यों दीखता रहे यह असम्भव है। दूसरी बात पृथ्वी केवल अपनी धूरी पर ही नहीं घूमती है। वह प्रति घण्टा ६६००० मील की गति से अपनी वार्षिक-सूर्य की परिक्रमा भी पूरी कर रही है। ऐसी स्थिति में जब कि सूर्य का व्यास ८६६००० मील व २६००००० मील के लगभग परिधि वाला है और ९३०००००० मील दूरी से पृथ्वी उसके चारों ओर अंडाकार परिभ्रमण करती है तो पृथ्वी का स्थानान्तरण एक वर्ष के विभिन्न महीनों में कितना विस्तृत हो जाता है, यह एक गणित सिद्ध विषय है। उस पर भी ध्रुवतारा पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव के ऊपर ही ज्यों का त्यों खड़ा रहे और पृथ्वीवासियों को समग्र १२ महीनों में एक समान दीखता रहे यह नितान्त असम्भव है। वैज्ञानिक लोग इस विषय में केवल यही कह कर समाधान किया करते हैं कि ध्रुवतारा पृथ्वी से इतनी दूर है कि पृथ्वी कितनी ही बार स्थानान्तरित होती रहे वह समान रूप से ही दीखता रहेगा। यह समाधान केवल कह देने भर को ही समाधान लगता है; वस्तुतः इसमें कोई यथार्थता प्रकट नहीं होती। पृथ्वी के साधारण दैनिक भ्रमण से पृथ्वीवासियों को प्रतिदिन सूर्य पूर्व से निकलता हुआ और पश्चिम में डूबता हुआ दीखता रहे और पृथ्वी के दैनिक, वार्षिक भ्रमण में भी ध्रुवतारा ज्यों का त्यों अडोल खड़ा रहे, यह कैसे हृदयगम हो सकता है ?

जैसा कि बताया गया वैज्ञानिकों ने बहुत सारे प्रश्नों का समाधान वायुमण्डल (Atmosphere) की परिकल्पना करके किया और कहा कि पक्षी, वायुयान आदि वायुमण्डल के साथ एक नैसर्गिक गति करते रहते हैं, इसलिये वे अपने नियत स्थानों पर पुनः पहुँच जाते हैं। सर्वप्रथम तो वायुमण्डल का विचार ही प्रमाण से अधिक दिमाग

[illegible] भी है और अनुकूल और प्रतिकूल गमन करने [illegible] यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रत्यक्ष देखा जाता [illegible] बन्दूक की गोली जितनी पूर्व की ओर गति करती है उतनी [illegible] पश्चिम की ओर। [illegible] यह मान लेना कि पृथ्वी का वायुमण्डल अपने आप में [illegible] है कि न उससे बाहर का पदार्थ पृथ्वी पर आ सकता है और न सामान्य [illegible] में कोई भी पदार्थ उसे छोड़कर कहीं जा सकता है। दूसरी ओर पृथ्वीवासी प्राणियों की अनुकूल और प्रतिकूल गति में सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रयोगों में भी वह पकड़ा न जा सके कैसे सम्भव है ?

वैज्ञानिकों के कथनानुसार ऐसा मान भी लिया जाये कि पृथ्वी पर ऐसा वायुमण्डल है ही तो भी प्रश्न समाधान नहीं पाते। मक्खी रेल के डिब्बे में दो गतियाँ कर सकती है, क्योंकि डिब्बा लगभग चारों ओर से आवृत्त है। वह एक वायु-पुञ्ज को अपने में निश्चल कर और बाहर के वायु-पुञ्ज को चीरता हुआ चला जा रहा है। पर पृथ्वी की ऐसी स्थिति नहीं है। वह प्रकृति के मुक्त वातावरण में घूमती है। इस पर कोई छत या आस-पास की दीवारें नहीं हैं। ऐसी स्थिति में वायुयान या पक्षी प्रति घण्टा एक हजार व ६६००० मील की दैनिक व वार्षिक भ्रमण की गति में पृथ्वी का साथ नहीं दे सकते। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम देखते हैं कि रेल के डिब्बे की मक्खी उसके साथ नैसर्गिक गति करती है। पर वही यदि डिब्बे की छत से दो-चार फुट ऊँची या उस डिब्बे के दायें-बायें उड़ती है तो वहाँ उसकी नैसर्गिक गति काम नहीं करती। चन्द सैकिण्डों में गाड़ी आगे निकल जाती है और मक्खी पीछे रह जाती है। इस प्रकार डिब्बे में रहा व्यक्ति यदि गेंद को पाँच फुट ऊपर फेंककर उसी स्थान पर अपने हाथ में उसे लेना चाहे तो उसे ले सकता है किन्तु यही प्रयोग यदि वह चलते हुए डिब्बे की खुली छत पर बैठकर करे तो लगता है वह गेंद को पुनः नहीं पा सकेगा। और यदि वह अपने पिंजरे में रहे हुए तोते को वहाँ से खुले आकाश में उड़ने के लिये छोड़ दे; यह सोचकर कि वह गाड़ी के वायुमण्डल में उड़ता हुआ सदा की भाँति पुनः इस पिंजरे में आ बैठेगा तो सचमुच ही वह अपने तोते से हाथ धो लेगा। सारांश यह रहा कि पृथ्वी का डिब्बे के उदाहरण से कोई समर्थन नहीं होता। यदि पृथ्वी घूमती हो तो मुक्त आकाश में घण्टों तक उड़ने वाले पक्षी और वायुयान गायब ही हो जाते।

सृष्टि का स्वाभाविक नियम तो यही लगता है कि जो यान तीव्र गति से चलते हैं, उन पर बैठने वाले हवा का एक प्रतिकूल दबाव अनुभव करते हैं। जिस पृथ्वी पर हम सब बैठे हैं और वह अनन्त आकाश में एक वायुयान की तरह स्वयं उड़ रही है तो हम वैसा अनुभव क्यों नहीं करते ? श्रीपति का यह तर्क निराधार ही नहीं है—

'भूगल वेग जनितेन समीरणेन प्रासाद भूधर शिरांस्यपि संपतेयु:' अर्थात् हमारा पृथ्वी का खुला वायुयान यदि तथाकथित प्रचण्ड गति से दौड़ रहा होता तो उसकी इस खुली छत पर वायु का इतना भीषण आघात लगता कि पृथ्वी पर रही बड़ी-बड़ी अट्टालिकायें, पर्वतों के शिखर और स्फुट वस्तुओं के साथ हम कहीं के कहीं आकाश में उड़ गिरते। साथ-ही-साथ यदि हमें स्थिर रखने वाला कोई गुरुत्वाकर्षण होता तो भी उस वायु के आघात-प्रतिघातों का व उस गुरुत्वाकर्षण के खिचावों का अनुभव तो होता ही।

सापेक्षवाद के नये प्रकाश में

विज्ञान एक वह नदी है जिसमें सतत एक के बाद एक नई लहर उठती रहती है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सापेक्षवाद का उदय हुआ और वैज्ञानिक जगत् के बहुत सारे अभिमत अपेक्षा के एक नये मानदण्ड से परखे गये। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण जो आधुनिक भूगोल शास्त्र की बहुत सारी कठिनाइयों को दूर करने वाला था, सापेक्षवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। सूर्य और पृथ्वी की भ्रमणशीलता में जो 'ही' और 'भी' का मतवाद चलता था अर्थात् सूर्य ही चलता है या पृथ्वी भी चलती है; आईन्स्टीन ने एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया। उसने बताया[1] "गति व स्थिति केवल सापेक्ष धर्म है।" "[2]प्रकृति ऐसी है कि किसी भी ग्रह पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती।" सूर्य की अपेक्षा में पृथ्वी चलती है या पृथ्वी की अपेक्षा में सूर्य चलता है इस विषय में सापेक्षवाद का स्पष्ट मन्तव्य है कि "सौर जगत् (Solar system) के ग्रहों का सापेक्ष भ्रमण पुराने तरीके से भी समझाया जा सकता है और कोपरनिकस के सिद्धान्त से भी। दोनों ही ठीक हैं और गति का ठीक-ठीक वर्णन देते हैं। किन्तु कोपरनिकस का मत सरलतम है। एक स्थिर पृथ्वी के चारों ओर सूर्य और चन्द्रमा प्रायः गोल कक्षा पर भ्रमण करते हैं, परन्तु सूर्य के नक्षत्रों और उपग्रहों के पथ जटिल, घुमावदार रेखाएँ हैं जो मस्तिष्क के लिये श्रमग्राह्य हैं और गणना में जिनका हिसाब बड़ी अड़चन पैदा करता है जब कि एक स्थिर सूर्य के चारों ओर महत्त्वपूर्ण पथ प्रायः वृत्ताकार है[3]।"

---

1. Rest and motion are merely relative.

—*Mysterious Universe.*

2 Nature is such that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever.

—*Mysterious Universe, p. 78.*

3. The relative motion of the members of the solar system may be 'explained' on the older geocentric mode and on the other introduced by Copernicus. Both are legitimate

सारांश यह हुआ कि पृथ्वी को स्थिर मान कर और सूर्य को चर मानकर चलने में कुछ गणित सम्बन्धी कठिनाइयाँ पैदा होती हैं और सूर्य को स्थिर व पृथ्वी को चर मान लेने में कुछ गणित सम्बन्धी सुविधायें मिलती हैं। भू-भ्रमण पर जो बल दिया जा रहा है वह गणितज्ञों का सुविधावाद है।

गणित में रस लेने वाले समझते हैं कि प्राचीन ग्रह कक्षाओं में और नूतन ग्रह कक्षाओं में इस सम्बन्ध को लेकर कोई अधिक उथल-पुथल नहीं हुई है। भारतीय व अभारतीय प्राचीन व्यवस्था में पृथ्वी केन्द्र है और चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल बृहस्पति तथा शनि क्रमशः अपनी-अपनी कक्षा पर घूमते हैं।

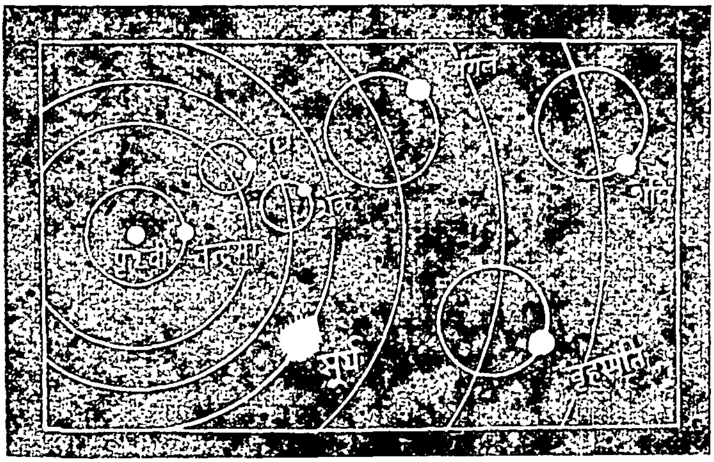

प्राचीन[1] गणिताचार्य प्रायः सभी इस अभिमत की एक स्वर से पुष्टि करते हैं।

---

and give a correct description of the motion but the Copernicus is far the simpler. Around a fixed earth the sun and moon describe almost circular paths but the paths of sun's planets and of their satellites are complex curly lines difficult for the mind to grasp and onward to deal with in calculation while around a fixed sun the more important paths are almost circular. —*Relativity and Commonsense by Denton.*

१. वराहमिहिर—चन्द्रादूर्ध्वंबुधसितरविकुजजीवार्कजास्ततो भानि।
प्राग्गतयस्तुल्यरूपा जवाग्रहास्तु सर्वे स्वमंडलगाः॥
—पंचसि० अ० १३, श्लोक २९।

लल्लाचार्य—चन्द्र, ज्ञ, भार्गव, दिनेश, कुजार्य सौरिभानिक्षिते क्रमत उर्ध्वगतिस्थितानि। —शि० वृ० मध्यमाधिकारी श्लोक १२।

भास्कराचार्य—भूमेः पिण्डः शशांकज्ञ कवि रवि कुजेज्यार्कि नक्षत्रकक्षा।
—सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय भुवनकोष २।

सौर केन्द्रिक जगत् की कक्षायें केन्द्र का परिवर्तन होकर इस प्रकार बनती हैं—केन्द्र में सूर्य और तत्पश्चात् क्रमशः बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि ये छः ग्रह हैं। चन्द्रमा को नवीन विज्ञान में ग्रह नहीं माना गया है। वह पृथ्वी की परिक्रमा करता है, इसलिये पृथ्वी का उपग्रह है। नवीन कक्षा व्यवस्था में तीन ग्रह यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो (वारुणी, वरुण और यम) और जोड़े गये हैं।

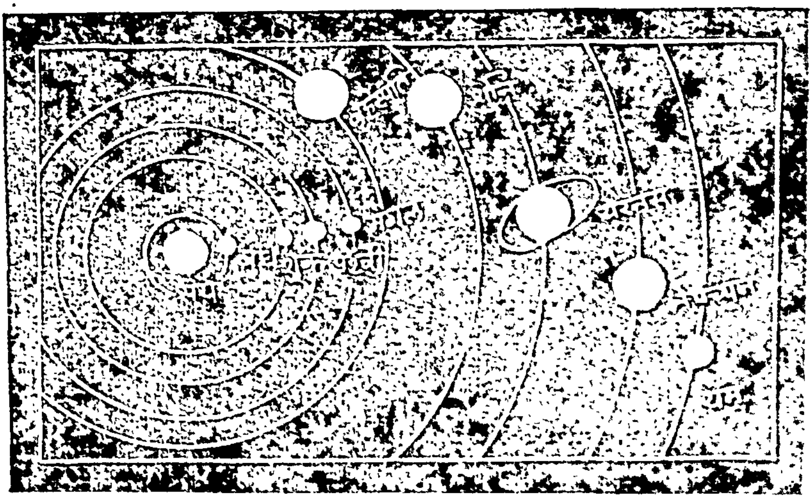

आज सूर्य चलता है या पृथ्वी यह विषय अधिक महत्त्व नहीं रखता। लियो-पोल्ड-इनफेल्ड लिखते हैं—"एक[1] आधुनिक भौतिक विज्ञान वेत्ता यदि टॉलमी और कोपरनिकस के सिद्धान्तों को मानने वालों के बीच होते हुए वार्तालाप को सुने तो

---

1. "Yet a modern physicist, listening to a discussion between supporters of the respective theories of Ptolemy and Copernicus might well be tempted to a sceptical smile. The Theory of Relativity has introduced a new factor into science and revealed that a new aspect of deciding between the Copernican view and that of Ptolemy is pointless and that in fact the proposition of both of them have lost their significance, whether we say "The earth moves and the sun is at rest" or "The earth is at rest and the sun moves," in either case we are saying something which really conveys nothing. Copernicus's great discovery is today reduced to the modest statement that in certain cases it is more convenient to relate the motion of heavenly bodies to the solar than to the terrestrial system."

—*The World in Modern Science by Leopold Infeld, p. 18.*

सम्भवतः वह कटाक्षपूर्ण हँसी किये बिना न रहेगा। सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने विज्ञान में एक नई बात उपस्थित कर दी है। यह जान लिया गया है कि कोपरनिकस के मत में और टोलमी के मत के सम्बन्ध में निर्णय करना अब निरर्थक है। और वास्तव में दोनों के सिद्धान्तों की विशेषता अब महत्त्व नहीं रखती। चाहे हम यह कहें कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है या पृथ्वी स्थिर है और सूर्य घूमता है; दोनों ही अवस्था में हम ऐसी बात कहते हैं जिसका कोई अर्थ नहीं। कोपरनिकस की महान् खोज आज केवल इतने ही वक्तव्य में समाने जितनी हो गई है कि कुछ एक प्रसगों में यह अधिक सुविधाजनक है कि नक्षत्रों की गति का सम्बन्ध सूर्य के साथ जोड़ें बनिस्पत इसके कि उसे पृथ्वी के साथ जोड़ा जाय।"

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्सजीन्स के शब्दों में उक्त गाणितिक सुविधा का इतिहास यह है—"विज्ञान का इतिहास ऐसी नाना परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है जिन पर तर्क-वितर्क होते रहे हैं। टोलमी और उसके अरब अनुयायियों ने चक्र और उपचक्र (Cycles and Epicycles) का निर्माण किया; और उसके अनुसार वे ग्रहों की भविष्यकालीन स्थिति बताने में सफल रहे।

१३वीं शताब्दी में केस्टाइल एलफान्जो नामक व्यक्ति ने कहा था कि यदि विश्व की रचना ऐसी जटिल है जैसी कि हम अब तक जान रहे हैं; यदि विधाता उस समय मेरी सलाह लेता तो उसे मैं एक अच्छी सलाह दे सकता था। कुछ समय बाद कोपरनिकस (Copernicus) ने यह माना कि टोलमी का सिद्धान्त इतना जटिल है कि वह सच्चा नहीं लगता। वर्षों के विचार और श्रम के बाद उसने बताया कि ग्रहों की गति अधिक सुगमता से बताई जा सकती है यदि उसकी गति सम्बन्धी भूमिका बदल दी जावे। टोलमी ने पृथ्वी को स्थिर माना था। कोपरनिकस ने सूर्य को स्थिर माना। किन्तु अब हम मानते हैं कि सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा अधिक स्थिर एकान्त रूप से नहीं माना जा सकता। जैसे—पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है ऐसा माना जाये तो सूर्य भी उन लाखों और करोड़ों तारों में से एक तारा है जो सारे मिल कर एक ग्लेस्टिक सिस्टम बनाते हैं और अपने केन्द्र के चारों ओर एक साथ घूमते हैं। इस ग्लेस्टिक सिस्टम का केन्द्र भी स्थिर नहीं माना जा सकता है; क्योंकि लाखों की संख्या में ग्लेस्टिक सिस्टम आकाश में दिखाई दे रहे हैं जो हमारे ही ग्लेस्टिक सिस्टम के बराबर हैं; और सबके सब ग्लेस्टिक सिस्टम अपने ग्लेस्टिक सिस्टम की अपेक्षा से और दूसरे की अपेक्षा से गति करते हैं। एक भी ग्लेस्टिक सिस्टम स्थिर नहीं है जो सबका केन्द्र या गति का मापदण्ड बन सकता हो। तो भी हम मान लें कि सूर्य स्थिर है न कि पृथ्वी तो बहुत सारी उलझनें दूर हो जाती हैं। एकान्त दृष्टि में न सूर्य स्थिर है और न पृथ्वी। फिर भी एक दृष्टि से पृथ्वी स्थिर सूर्य के आस-पास

घूमती है, यह सत्य के अधिक समीप है वनिस्पत सूर्य एक स्थिर पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। कोपरनिकस को भी कुछ एक उपचक्र (Epicycles) मानने पड़े। दृश्य तथ्यों के साथ अपने सिद्धान्तों का संतुलन रखने के लिये यह इसका अनिवार्य परिणाम था कि ग्रहों की कक्षायें गोल थीं। कोपरनिकस ने या और किसी ने अरिस्टोटल के वर्तुलाकार कक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन करने का साहस नहीं किया। केपलर ने कोपरनिकस के वर्तुल सिद्धान्त के स्थान पर अण्डाकार कक्षा को सिद्धान्त माना। तब से उपचक्र (Epicycles) का सिद्धान्त अनावश्यक हो गया और ग्रहों की गति का सिद्धान्त अत्यन्त सरल हो गया। यह सिद्धान्त तीन शताब्दियों तक चलता रहा। उससे भी अधिक सरलता आईंस्टीन के सापेक्षवाद सिद्धान्त ने दी[1]।"

---

1. The history of science provides many instances of situations such as we have been discussing. To begin with the most obvious Ptolemy and his Arabian successors built up the famous system of cycles and epicycles which enabled them to predict the future positions of the planets.

Many, indeed felt that it was too complex to correspond to the ultimate facts. In the thirteenth century, Alphonso X of Castille is reported to have said that if the heavens were really like that, 'I could have given the Deity good advice, had He consulted me at their creation.' At a later date Copernicus also thought the Ptolemaic system too complex to be true and, after years of thought and labour, showed that the planetary motions could be described much more simply if the background of the motions were changed. Ptolemy has assumed a fixed earth; Copernicus substituted a fixed Sun. We now know that the sun can no more be said to be at rest, in any absolute sense, than the earth; it is one of the thousands of millions of stars which together form the galactic system, and it moves round the centre of this system just as the earth moves round the centre of the solar system. And even this centre of the galactic system cannot be said to be at rest. For millions of galactic systems can be seen in the sky, all pretty much like our own, and all in motion relative to our own galaxy and to one another. No one of all these galaxies has a better claim than any other to constitute a standard 'rest' from which the 'motions' on the others can be measured. Nevertheless, many complications are avoided by imagining that the sun and not the earth is at rest. Neither the sun nor the earth is at rest in any absolute sense and yet it is, in a sense, nearer to the truth to say that the earth moves round a fixed sun than to say that the sun moves round a fixed earth.

Copernicus had still to retain a few minor epicycles to

अपने सूर्य के अति निकट आया। जिस प्रकार हमारी पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र ज्वार पैदा करते हैं, उस आगन्तुक तारा ने भी सूर्य की सतह पर ज्वार पैदा किये होंगे; लेकिन वे ज्वार हमारे समुद्रों में होने वाले छोटे ज्वारों से सर्वथा भिन्न रहे होंगे। एक भयंकर लहर सूर्य के समूचे सतह पर फैल गई होगी और ज्यों-ज्यों वह तारा निकट आया वह लहर एक कल्पनातीत ऊँचे पर्वत का रूप लेती गई होगी; तथा उस तारा के दूर होने के पूर्व ही उसका ज्वार सम्बन्धी खिचाव इतना बढ़ा होगा कि उस बढ़ते हुए पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो गये होंगे और उस पर्वत ने अपने छोटे टुकड़ों को ऐसे फेंक दिया होगा जैसे एक समुद्र की लहरें जलकणों को फेंकती हैं। ये छोटे टुकड़े अपने जनक सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। ये ही हमारे छोटे और बड़े ग्रह हैं जिनमें हमारी पृथ्वी भी एक है।"

यह हुआ पृथ्वी की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विचार। इससे आगे बताया जाता है कि पृथ्वी जिस समय सूर्य से अलग हुई उस समय यह नारंगी के समान न होकर सेव के समान कुछ-कुछ नुकीली थी। तीव्र परिभ्रमण में वह नुकीला भाग टूटा और पृथ्वी की परिक्रमा करने लगा। यह हमारा चन्द्रमा है जिससे हम सूर्य की तरह ही परिचित हैं। पर नवीनतम विज्ञान में परिक्रमा का इतिहास यहीं समाप्त नहीं होता। चन्द्रमा पृथ्वी की और उसे साथ लिये पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है; किन्तु सूर्य स्वयं स्थिर नहीं है। वह भी पृथ्वी आदि अपने समस्त ग्रहों को साथ लिये किसी अन्य महाग्रह की परिक्रमा करता है और वह फिर किसी अन्य महाग्रह की। पृथ्वी पर उस समय तक इतनी उष्णता थी कि उसका समस्त भाग वाष्पमय हो रहा था। धीरे-धीरे वह वाष्पगोला ठण्डा और ठोस होता गया। एक समय ऐसा आया कि उस गोले के अन्दर का अधिक ठोस भाग अपने बाहरी हलके व पतले भाग से पृथक् होने लगा। आगे चलकर अन्दर का भाग और अधिक ठोस और बाहरी खोल और भी

---

tides on the earth, so this second star must have raised tides on the surface of the sun. But they would be very different from the puny tides which the small mass of the moon raises in our oceans; a huge tidal wave must have travelled over the surface of the sun, ultimately forming a mountain of prodigious height, which would rise ever higher and higher as the cause of the disturbance came nearer and nearer. And, before the second star began to recede, its ideal pull had become so powerful that this mountain was torn to pieces and threw off small fragments of itself; much as the crest of a wave throws off spray. These small fragments have been circulating around their parent sun ever since. They are the planets, great and small, of which our earth is one.

पतला होकर एक ऐसा गोला बन गया जिसे वर्तमान वायुमण्डल का आदि अंश कह सकते हैं। वह बाहरी खोल या वायुमण्डल प्रथम तो कुहरे जैसा रहा। सूर्य की किरणें भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकती थीं; पर धीरे-धीरे किरणों ने इसके वाष्प-पक्ष को चीर कर पहली बार अन्दरूनी गोले का स्पर्श किया। किरणों के निरन्तर प्रवेश और आवागमन से वाष्प का हृदय पिघल गया और पृथ्वी पर एक भयंकर मानसूनी वातावरण उपस्थित हो गया। इन मानसूनी बादलों से जो वर्षा हुई उसकी तुलना प्रलय की वर्षा से ही की जा सकती है। यह स्थिति भी अधिक दिनों तक न रही। धीरे-धीरे इस पृथ्वी का तापमान समुचित हुआ तो वनस्पतियों ने अंकुर के रूप में पृथ्वी पर चरणन्यास किया। वनस्पतियों के बाद कुछ रेंगने वाले प्राणी आये। धीरे-धीरे जीवधारियों का विकास हुआ; और बन्दर की परम्परा में आगे बढ़ने वाले चींपाजी बन्दर आदि जब वृक्षों के बदले धरती पर बैठने के आदी होने लगे तब उनके सन्तति-प्रवाह में इस मनुष्य नामधारी प्राणी का अवतार हुआ। पृथ्वी की आदि से इस विकास तक करोड़ों वर्ष लग चुके हैं।

पृथ्वी का भविष्य

भविष्य में क्या होनेवाला है—इस विषय में भी विज्ञान चुप नहीं रह सका। उसका अभिमत है कि धीरे-धीरे पृथ्वी की परिक्रमा-गति भी मन्थर होती जा रही है। अब उसे अपनी धुरी की परिक्रमा में एक अहोरात्र अर्थात् २४ घण्टे लगते हैं; किन्तु पहले कभी वह तीन चार घण्टे में ही अपनी परिक्रमा समाप्त कर लेती थी। उस समय दो घण्टे के दिन और दो घण्टे की ही रातें हुआ करती थीं। एक लम्बी अवधि के पश्चात् पृथ्वी की गति इतनी मन्द हो जायेगी कि २४ घण्टे का अहोरात्र १४०० घन्टों का अहोरात्र हो जायेगा। अर्थात् ७०० घण्टों का दिन और ७०० घण्टों की रात। इससे आगे क्रमशः परिक्रमा-गति और भी मन्थर होती जायेगी। गति के साथ पृथ्वी की उष्णता का भी ह्रास होता जायेगा। जहाँ जैसे पहले-पहल अति उष्णता के कारण जीवधारी नहीं रह सकते थे वहाँ आगे चलकर कल्पनातीत भयंकर शीत में पृथ्वी पर से प्राणी मात्र का लोप हो जायेगा। यह भी हो सकता है कि कभी यह सारी पृथ्वी अणु-अणु होकर अनन्त शून्य में विलीन हो जाये।

उत्पत्ति व विनाश

पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश आदि के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार वैज्ञानिक जगत् में अब तक के अन्तिम विचारों में से हैं। वैसे तो इनसे पूर्व और भी नाना कल्पनाएँ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में आती रही हैं, पर व्यवस्थित रूप इन्हीं निरूपणों ने लिया है। यह पृथ्वी शेषनाग के मस्तिष्क पर रह रही है—इस युग से लेकर

वैज्ञानिक विश्व की उक्त मान्यताओं तक कि पृथ्वी सूर्य का टुकड़ा है, पृथ्वी का अपना टुकड़ा चाँद है—आदि का परिचय पाकर विचारक निस्सन्देह इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश आदि के सम्बन्ध में जैन आगम व जैन दर्शन का अभिमत ही बहुत प्रकार से तर्क व बुद्धिसंगत है। वहाँ माना गया है कि विश्व की अनेक पृथ्वियों में से हमारी यह पृथ्वी (तिर्यग्लोक) एक है। इससे ऊपर भी अनन्त आकाश में पृथक् पृथक् अनेक पृथ्वियाँ (उर्ध्वलोक) हैं और नीचे भी पृथक्-पृथक् अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार यह चतुर्दश रज्ज्वात्मक समस्त विश्व है। यह शाश्वत है और अनेक द्वीपात्मक व अनेक समुद्रात्मक यह अपनी पृथ्वी भी उसकी एक शाश्वत इकाई है। सरांश यह हुआ कि यह पृथ्वी न कभी बनी और न कभी इसका अन्त है। न सूर्य से यह टूटी है और न चन्द्रमा ही इससे अलग हुआ है। बन्दर व मनुष्य भी इसके अनादिकालीन वासी हैं। दार्शनिक जगत् में जहाँ एक विचार है कि पृथ्वी की रचना ईश्वर ने की; अनादि और अनन्त का समाधान वहाँ भी श्रेष्ठतर रहा; क्योंकि कर्तृत्ववाद यहाँ चुप रहता है कि यदि इस पृथ्वी को बनाने वाला कोई है तो उसने यह कब क्यों और कैसे बनाई? ये प्रश्न इतने गहरे उतरते थे कि वहाँ अन्त में अनवस्था, उपादान, हानि आदि प्रसंग पैदा हो जाते थे। वैज्ञानिक युग में कर्तृत्व-वाद का विचार और भी मन्द होता गया। वहाँ भूत (Matter) की स्वयं परिणति अभीष्ट हुई। सूर्य, चन्द्र, तारा पृथ्वी आदि प्रकृति की स्वाभाविक परिणतियों से बनते व बिगड़ते हैं। इनका उपादान पदार्थ' (Matter) शाश्वत है। विज्ञान भी प्रकृति के पृथ्वी आदि कुछ संस्थानों को उस आकार प्रकार में ही शाश्वत मान लेता पर उसकी समझ में यह नहीं आ रहा है कि अणु-निर्मित कोई संस्थान शाश्वत कैसे रह सकता है। संघटन और विघटन प्रकृति का दैनंदिन धर्म है। जैन दर्शन का अभिमत इस समस्या को भी सुलझाकर चलता है। उसका विश्वास है, संघटन और विघटन यद्यपि भौतिक विश्व के कुछ ऐसे प्रतीक हैं जो स्वसंस्थान में रहते हुए भी अपने आप में संघटन और विघटन की क्रिया करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में वह प्रक्रिया प्राकृतिक नियमों से होती रहती है। उन संस्थानों से विघटन पर्याय को प्राप्त परमाणु प्रति समय (काल का सूक्ष्मतम भाग) दूर होते रहते हैं; और संघटन पर्याय के योग्य दूसरे असंख्य परमाणु उनमें संयुक्त होते रहते हैं। एक सुदीर्घ अवधि के पश्चात् एक-एक करके उस संस्थान के सारे परमाणु बदल जायेंगे पर सामान्य दृष्टि में वह संस्थान (इकाई) ज्यों का त्यों खड़ा रहेगा। प्रकृति के इस कार्य को हम एक मकान व एक गाँव के उदाहरण से कुछ और स्पष्ट समझ सकते हैं। मकान मालिक व उसके वंशज अपने मकान में टूट साँध करते जाते हैं। धीरे-धीरे एक दिन ऐसा आता है कि लग-भग सारा मकान दूसरा हो जाता है, पर लोगों की दृष्टि में वह वही मकान है जो

सैकड़ों वर्ष पूर्व बना था। वंश परम्परा शाश्वत नहीं होती व मनुष्य की शक्ति अधूरी है नहीं तो स्यात् वह मकान भी भौतिक संसार का एक शाश्वत संस्थान कहलाता।

प्रकृति स्वयं शाश्वत है। उसके हाथ दुर्बल नहीं हैं। उसके उपादान की कमी नहीं है। इसलिये उसके चाहे हुए संस्थान शाश्वत स्थिर रह जाते हैं। दूसरा उदाहरण गाँव का है। मनुष्यों और घरों का समुदाय गाँव व नगर है। सौ व कुछ अधिक वर्षों के पश्चात् उसके सारे वासी बदल जाते हैं। हजारों वर्षों के पश्चात् सारे मकान भी, पर वह वही नगर कहलाता है। आज भी ऐसे नगर हैं जिनका हजारों वर्षों का धारावाही इतिहास है। हो सकता है कुछ ऐसे भी नगर हों जिनके नाम, संस्कृति, छोटे-पन व बड़ेपन के परिवर्तन हो जाने पर भी उनका स्थानिक व सामुदायिक अस्तित्व मानव जाति का ही सहभावी हो। उसे हम उस प्रकार से न भी पहचाने पर प्रकृति के साम्राज्य में यह असम्भव नहीं है। प्रकृति का यह कार्य बुद्धिगम्य है। इस प्रकार जैसे नागरिक जन्मते हैं, मरते हैं, नगर शाश्वत बना रहता है; वैसे ही उक्त प्रकार के भौतिक (पौद्गलिक) संस्थानों में भी प्राकृतिक नियम से परमाणु मरते रहते हैं पर उसका सांस्थानिक स्वरूप सार्वकालिक बना रहता है। प्रकृति के ऐसे प्रतीक हैं—सूर्य, चन्द्र, आदि ज्योतिर्मंडल तथा नाना पृथ्वियाँ जिनमें एक हमारी भी है, और उन पर रहे कुछ समुद्र व कुछ पर्वत। अस्तु पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश के सम्बन्ध में उक्त दृष्टिकोण जैन दर्शन ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व उपस्थित किया है जो इस सम्बन्ध की दार्शनिक व वैज्ञानिक समस्त धारणाओं से आज भी आगे है। प्रश्न प्रत्येक निर्णय के इर्द-गिर्द रहा ही करते हैं; तब भी लगता है कि आज के बुद्धिवादी इस मार्ग से ही इस सम्बन्ध में सत्य के अधिक समीप पहुँच सकते हैं।

कालचक्र

पृथ्वी की रचना के सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ता व भूगर्भ शास्त्री पर्वत, खान व भूगर्भ की रासायनिक प्रक्रियाओं के यथार्थ प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति और विनाश की जो कल्पना करते हैं; जैन पदार्थ-विज्ञान के अनुसार उसकी कुछ संगति अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कालक्रम के साथ बैठ सकती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है—ह्रास व विकास का एक सुदीर्घ कालचक्र। यह कालचक्र संख्यातीत वर्षों में पूरा होता है। उत्सर्पिणी के आधे कालचक्र में पृथ्वी की सारी प्रक्रियायें क्रमशः भव्य-निर्माण (विकास) की ओर बढ़ती है और अवसर्पिणी के आधे कालचक्र में क्रमशः ध्वंस (ह्रास) की ओर। आने वाली अवसर्पिणी के अन्त तक जो होने वाला है उसका वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है—"उस समय दुःख से लोगों में हाहाकार होगा। अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला, मलिन, धूलियुक्त पवन चलेगा। [illegible] दुःसह व भय

उत्पन्न करने वाला होगा। वर्तुलाकार वायु चलेगी जिससे धूलि आदि एकत्रित होगी। पुनः पुनः धूलि उड़ने से दशों दिशायें रजःसहित हो जायेंगी। धूलि से मलिन अन्धकार समूह के हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव बहुत कठिनता से होगा। समय की रूक्षता से चन्द्र में अधिक शीत होगा और सूर्य भी अधिक तपेगा और उस क्षेत्र में बार-बार बहुत अरस-विरस मेघ, क्षारमेघ, विषमेघ, विद्युन्मेघ, अमनोज्ञमेघ, प्रचण्ड वायु वाले मेघ बरसेंगे। इससे भरत क्षेत्र में ग्राम, नगर, पाटण, द्रोणमुख व आश्रम, में रहने वाले मनुष्य, चतुष्पद, पक्षियों के समूह व आम्र, अशोक आदि का विध्वंस होगा। वैताढ्य पर्वत को छोड़कर सब पर्वतों का नाश होगा। गंगा व सिन्धु दो नदियाँ रहेंगी। उस समय भरत क्षेत्र की भूमि अग्निभूत, मुर्मुरभूत, भस्मभूत हो जायेगी; पृथ्वी पर चलने वाले जीवों को बहुत कष्ट होगा। उस समय भरत-क्षेत्र के मनुष्य खराब वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले तथा अप्रिय, अमनोज्ञ वचन बोलने वाले होंगे; तथा वे ऊँट की तरह वक्रचाल चलने वाले, शरीर के विषम संधिबन्ध को धारण करने वाले, ऊँची-नीची विषम पसलियों व हड्डी वाले कुरूप होंगे। उत्कृष्ट एक हाथ की अवगाहना और २० वर्ष की आयु उनकी होगी। उस समय गङ्गा, सिन्धु नदी का विस्तार रथ के मार्ग जितना होगा। उस समय बहुत मत्स्य आदि जल जन्तु रहेंगे। पानी बहुत थोड़ा रहेगा। मनुष्य केवल बीजरूप ही बचेंगे। वे उक्त नदियों के किनारे बिलों में रहेंगे। सूर्योदय से एक मुहूर्त पहले, सूर्यास्त के एक मुहूर्त पश्चात् बिलों से निकलेंगे और मत्स्य आदि को उष्ण रेती में पकाकर खायेंगे। यह स्थिति २१००० वर्षों तक रहेगी[1]।" यह ह्रास का अन्तिम समय होता है। इसके बाद पुनः उत्सर्पिणी का अर्ध कालचक्र आरम्भ होता है, जिस से क्रमशः पृथ्वी का वातावरण पुनः सुधरने लगता है। शुद्ध हवायें चलती है, स्निग्ध मेघ बरसते हैं और अनुकूल तापमान होते जाते हैं। बिलों में व अन्य सुरक्षित स्थानों में रहे मनुष्य आदि जंगम प्राणी पुनः पृथ्वी के मुक्त वातावरण में घूमने लगते हैं। सृष्टि बढ़ती है; गाँवों व नगरों का निर्माण होता जाता है और उत्सर्पिणी के अन्तिम दिनों तक पृथ्वी का समस्त वातावरण निर्माण के शिखर पर पहुँच जाता[2] है। इस प्रकार एक कालचक्र सम्पन्न होता है। इस कालचक्र का वर्तन हमारे इस क्षेत्र की तरह विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों में नहीं होता। प्रकृति के इतिहास में होने वाले इस अध्याय परिवर्तन को लोग प्रलय और सृष्टि कहते हैं। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ आत्यन्तिक नाश नहीं; वह ध्वंस (ह्रास) की अन्तिम मर्यादा है। बहुत कुछ सम्भव है कि

१. भगवती शतक ७, उद्देशक ६।

२. जम्बूद्वीप पन्नत्ति कालाधिकार।

ध्वंस और निर्माण के भूदेह पर और भूगर्भ में होने वाले परिवर्तन ही नवीन विज्ञान की पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी कल्पनाओं के हेतु हों। अस्तु; इस विषय में जैन पदार्थ विज्ञान युग के नवीन चिन्तन में पृथ्वी के संघटन व प्राणियों की स्थिति सम्बन्धी नाना रहस्यों को प्रकट करने में विविध प्रकार से योगभूत हो सकता है। अपेक्षा है कि भूगर्भ शास्त्री व अन्य अनुसंधाता इस ओर विशेष रूप से ध्यान दें।

उत्पन्न करने वाला होगा। वर्तुलाकार वायु चलेगी जिससे धूलि आदि एकत्रित होगी। पुनः पुनः धूलि उड़ने से दशों दिशायें रजःसहित हो जायेंगी। धूलि से मलिन अन्धकार समूह के हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव बहुत कठिनता से होगा। समय की रूक्षता से चन्द्र में अधिक शीत होगा और सूर्य भी अधिक तपेगा और उस क्षेत्र में बार-बार बहुत अरस-विरस मेघ, क्षारमेघ, विषमेघ, विद्युन्मेघ, अमनोज्ञमेघ, प्रचण्ड वायु वाले मेघ बरसेंगे। इससे भरत क्षेत्र में ग्राम, नगर, पाटण, द्रोणमुख व आश्रम, में रहने वाले मनुष्य, चतुष्पद, पक्षियों के समूह व आम्र, अशोक आदि का विध्वंस होगा। वैताढ्य पर्वत को छोड़कर सब पर्वतों का नाश होगा। गंगा व सिन्धु दो नदियाँ रहेंगी। उस समय भरत क्षेत्र की भूमि अग्निभूत, मुर्मुरभूत, भस्मभूत हो जायेगी; पृथ्वी पर चलने वाले जीवों को बहुत कष्ट होगा। उस समय भरत-क्षेत्र के मनुष्य खराब वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले तथा अप्रिय, अमनोज्ञ वचन बोलने वाले होंगे; तथा वे ऊँट की तरह वक्रचाल चलने वाले, शरीर के विषम संधिबन्ध को धारण करने वाले, ऊँची-नीची विषम पसलियों व हड्डी वाले कुरूप होंगे। उत्कृष्ट एक हाथ की अवगाहना और २० वर्ष की आयु उनकी होगी। उस समय गङ्गा, सिन्धु नदी का विस्तार रथ के मार्ग जितना होगा। उस समय बहुत मत्स्य आदि जल जन्तु रहेंगे। पानी बहुत थोड़ा रहेगा। मनुष्य केवल बीजरूप ही बचेंगे। वे उक्त नदियों के किनारे बिलों में रहेंगे। सूर्योदय से एक मूहूर्त पहले, सूर्यास्त के एक मूहूर्त पश्चात् बिलों से निकलेंगे और मत्स्य आदि को उष्ण रेती में पकाकर खायेंगे। यह स्थिति २१००० वर्षों तक रहेगी[१]।" यह ह्रास का अन्तिम समय होता है। इसके बाद पुनः उत्सर्पिणी का अर्ध कालचक्र आरम्भ होता है, जिस से क्रमशः पृथ्वी का वातावरण पुनः सुधरने लगता है। शुद्ध हवायें चलती हैं, स्निग्ध मेघ बरसते हैं और अनुकूल तापमान होते जाते हैं। बिलों में व अन्य सुरक्षित स्थानों में रहे मनुष्य आदि जंगम प्राणी पुनः पृथ्वी के मुक्त वातावरण में घूमने लगते हैं। सृष्टि बढ़ती है; गाँवों व नगरों का निर्माण होता जाता है और उत्सर्पिणी के अन्तिम दिनों तक पृथ्वी का समस्त वातावरण निर्माण के शिखर पर पहुँच जाता[२] है। इस प्रकार एक कालचक्र सम्पन्न होता है। इस कालचक्र का वर्तन हमारे इस क्षेत्र की तरह विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों में नहीं होता। प्रकृति के इतिहास में होने वाले इस अध्याय परिवर्तन को लोग प्रलय और सृष्टि कहते हैं। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ आत्यन्तिक नाश नहीं; वह ध्वंस (ह्रास) की अन्तिम मर्यादा है। बहुत कुछ सम्भव है कि

---

१. भगवती शतक ७, उद्देशक ६।

२. जम्बूद्वीप पन्नत्ति कालाधिकार।

ध्वंस और निर्माण के भूदेह पर और भूगर्भ में होने वाले परिवर्तन ही नवीन विज्ञान की पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी कल्पनाओं के हेतु हों। अस्तु; इस विषय में जैन पदार्थ विज्ञान युग के नवीन चिन्तन में पृथ्वी के संघटन व प्राणियों की स्थिति सम्बन्धी नाना रहस्यों को प्रकट करने में विविध प्रकार से योगभूत हो सकता है। अपेक्षा है कि भूगर्भ शास्त्री व अन्य अनुसंधाता इस ओर विशेष रूप से ध्यान दें।

७

धर्म-द्रव्य और ईथर

आत्मा और अणु की गतिक्रिया का विश्लेषण करते हुए जैन मनीषियों ने एक उदासीन माध्यम के रूप में धर्म-द्रव्य का निरूपण किया। सहस्राब्दियों पश्चात् और आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व गति सिद्धान्त को समझते हुए वैज्ञानिकों ने ईथर-द्रव्य की कल्पना की। धर्म और ईथर दोनों द्रव्य गति-सापेक्ष होते हुए भी अपनी स्वरूप व्याख्या में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न थे। प्रगतिशील नवीन विज्ञान का ईथर आज दर्शन-परम्परा के धर्म-द्रव्य में किस प्रकार समाहित होता जा रहा है, यही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है। जैन आगमों में धर्म-द्रव्य को धर्मास्तिकाय भी कहा गया है।

धर्म-द्रव्य

विश्वस्थिति पर प्रकाश डालते हुए भगवान् महावीर ने बताया—लोकधर्म, अधर्म, आकाश काल, पुद्गल, जीवषड्-द्रव्य[1] रूप है। द्रव्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"गुणों का आश्रय द्रव्य[2] है।" इससे स्पष्ट हो जाता है, यहाँ न तो धर्म शब्द "आत्मशुद्धि का साधन[3] धर्म है" और न वह कर्त्तव्य व गुण के अर्थ में। यहाँ वह विश्वस्थिति के एक मौलिक द्रव्य का सूचक पारिभाषिक शब्द है। भगवान महावीर के शब्दों में धर्म-द्रव्य का विराट् रूप यह है—"धर्म-द्रव्य एक[4] है। वह लोक व्याप्त है। यह शाश्वत है। वर्ण-शून्य है, गन्ध शून्य है, रसशून्य है, स्पर्श-शून्य है। वह जीव और अणु की गतिक्रिया में सहायक है।" "धर्मास्तिकाय वर्ण-गन्ध

---

१. धम्मो, अधम्मो, आगासं, कालो पुग्गलजन्तवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्तराध्ययन २८-७।

२. गुणाणमासओ दव्वं। —उत्तराध्ययन २८-६।

३. आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः। —जैन सिद्धान्त दीपिका ७-१३।

४. दव्वओणं धम्मत्थिकाए एगे दव्वे, खेत्तओ-लोगप्पमाणमेत्ते,
कालओ न कयायि न आसि, न कयायि नत्थि, जाव णिच्चे,
भावओ-अवण्णे, अगन्धे, अरसे, अफासे, गुणओ, गमणगुणे।
—व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक २, उद्देशक १०।

रस-स्पर्श रहित, अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित, लोक व्याप्त द्रव्य[1] है।"

"जीवों का आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मानसिक, वाचिक, कायिक व अन्य प्रवृत्तियाँ भी धर्मास्तिकाय से होती[2] हैं।"

"धर्मास्तिकाय के[3] असंख्य प्रदेश हैं। वे सर्व सम्पूर्ण, प्रति पूर्ण, निरवशेष एक शब्द सूचित हैं।"

धर्म-द्रव्य असंख्य प्रदेशात्मक है। अतः प्रदेश किसे कहते हैं यह समझ लेना भी आवश्यक होगा। वस्तु का[4] अविभक्त सूक्ष्मतम अंश प्रदेश कहलाता है अर्थात् अखण्ड धर्म-द्रव्य का एक परमाणु जितना अंश एक प्रदेश कहलाता है। उन समस्त प्रदेशों की एक वाच्यता धर्मास्तिकाय है।

धर्म-द्रव्य क्यों?

भगवान् श्री महावीर के उत्तरवर्ती जैन मनीषियों ने धर्म-द्रव्य की दार्शनिक पद्धति से उपयोगिता सिद्ध करते हुए बहुमुखी विवेचन किया है। श्री जैन सिद्धान्त दीपिका में आचार्य श्री तुलसी लिखते हैं—

"धर्मास्तिकाय[5] और अधर्मास्तिकाय[6] के बिना जीव और पुद्गल की गति

---

१. धम्मत्थिकाएणं भन्ते कति वण्णे कति रसे कति फासे?
गोयमा! अवण्णे अगन्धे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासए अवट्ठिए लोक दव्वे। — भगवती शतक २, उद्देशक १०।

२. धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमण गमण भासुम्मेस मण जोगा वयजोगा कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तन्ति। — भ० श० १३, उद्देशक ४।

३. असंखेज्जा धम्मत्थिकाए पएसा, ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगगहणगहिया, एस णं धम्मत्थिकाएत्ति वत्तव्वं सिया। — भगवती श० २, उद्देशक १०।

४. बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः, निरंशः प्रदेशः। — जैन-सिद्धान्त दीपिका [illegible]।

५. जीवपुद्गलानां गतिस्थितिलक्षणत्वात्... [illegible]
[illegible] धर्माधर्मौ [illegible]
एतयोरभावादेव अलोके जीवपुद्गलादीनामभावः।
[illegible]

६. जैन-दर्शन में गति-सहायक धर्म-द्रव्य की तरह स्थिति-सहायक अधर्म-द्रव्य माना गया है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि एक गति में और दूसरा स्थिति का सहायक है।

तथा स्थिति नहीं हो सकती। वायु आदि अन्य पदार्थों को गति तथा स्थिति का सहायक मानने से अनवस्था आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अतः इनका अस्तित्व निःसन्देह सिद्ध है। अलोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों ही नहीं हैं। इसलिए वहाँ पर जीव और पुद्गल नहीं जा सकते और नहीं रह सकते।"

पन्नवणावृत्ति में आचार्य मलयगिरि और लोक-प्रकाश में विनय विजय गणी धर्म-द्रव्य की सार्थकता वतलाते हुए लिखते हैं—"धर्म-द्रव्य[1] के अभाव में लोक अलोक की व्यवस्था ही नहीं बनती।"

प्रमेय कमल मार्तण्ड में श्री प्रभाचन्द्र सूरि धर्म-द्रव्य की सूक्ष्म विश्लेषणा करते हुए लिखते हैं—"सब[2] जीव और पौद्गलिक पदार्थों की गतियाँ एक साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखती हैं, क्योंकि ये सब जीव और पौद्गलिक पदार्थ युगपत् गतिमान् दिखलाई देते हैं। तालाब के अनेक मत्स्यों की युगपत् गति देखकर जिस प्रकार उक्त गति के साधारण निमित्त रूप एक सरोवर में रहे हुए पानी का अनुमान होता है।"

यौक्तिक अपेक्षा

धर्मास्तिकाय की कोई निराधार कल्पना नहीं है। इस विषय को जैन दार्शनिकों ने पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है, आकाश अनन्त है, विश्व एक देशवर्ती है, यह जैन दर्शन की मान्यता है। विश्व एक देशवर्ती है, ऐसा क्यों? यह इसलिए कि विश्व में ऐसा कोई तत्त्व है, जिसका गुण गतिक्रिया में योगभूत होना है और वह लोक परिमित है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का एक एक परमाणु अनन्त आकाश में छितर जाता और विश्व का कोई संगठन ही नहीं बनता। यही धर्म-द्रव्य की यौक्तिक अपेक्षा है।

एक अन्य अपेक्षा—आत्मा और अणु दो गतिशील पदार्थ हैं। अपनी गति का उपादान कारण तो वे स्वयं हैं पर निमित्त कारण को खोजना पड़ता है। पृथ्वी, जल आदि लोक व्यापी नहीं हैं। गति लोक मात्र में देखी जाती है। वायु आदि स्वयं गतिशील हैं। आकाश लोक और अलोक में सर्वत्र व्याप्त है, पर जीव व पुद्गल की गति सर्वत्र प्रतीत नहीं होती। काल गति निरपेक्ष है और लोक देश में है। निर्धारित द्रव्यों

---

१. लोकालोक व्यवस्थाऽनुपपत्तेः। —प्रज्ञापना वृत्ति, पद १।

२. विवादापन्नसकलजीवपुद्गलाश्रया सकृद्गतयः।
साधारण बाह्य निमित्तापेक्षा युगपद् भावि—
गतिमत्वादेकसरःसलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत्। —प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड।

में से एक भी गति-माध्यम का प्रतीक नहीं हो सकता। इसलिए धर्म-द्रव्य की स्वतन्त्र कल्पना अत्यन्त स्वाभाविक और बुद्धिगम्य है।

धर्मास्तिकाय जन्य सहाय का स्वरूप

धर्म-द्रव्य किस प्रकार से जीव और पुद्गल को गतिक्रिया में सहायता प्रदान करता है, यह बताते हुए पंचास्तिकायसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—"धर्मास्तिकाय[1] न स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गतिशील जीव व पुद्गल की गति का प्रसाधन है। मछलियों के लिए जल जैसे गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीवपुद्गलों के लिये धर्म-द्रव्य है।"

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्रसूरि लिखते हैं—

"धर्म-द्रव्य[2] गति परिणत जीव व पुद्गल के लिए मछलियों के लिये जल की तरह गमन-सहकारी है। स्थिर पदार्थों को वह चलने के लिए प्रेरित नहीं करता।"

अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—"धर्म-द्रव्य[3] क्रियापरिणत व क्रियाशील पदार्थों को स्वयमेव सहायता प्रदान करता है। जीव और पुद्गल के कर्तव्य गति उपग्रह में वह साधारण आश्रय है, जैसे मत्स्य के गमन में जल।"

आज की व्यवहार्य सामग्री में यदि हम धर्म-द्रव्य के सहाय को समझना चाहें तो रेल और पटरी का उदाहरण समुचित होगा। रेल के लिए पटरी की सहायता जिस प्रकार अनिवार्यतः अपेक्षित है, उसी तरह गतिशील जीव व पुद्गल को

१. न च गच्छति धर्मास्तिको, गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य।
भवति गतेः प्रसरो, जीवानां पुद्गलानां च ॥ ८५ ॥
उदकं यथा मत्स्यानां, गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलानां, धर्म-द्रव्यं विजानीहि ॥ ८६ ॥
—[illegible]।

२. गति परिणतानां धर्मः पुद्गलजीवानां गमन सहकारी।
तोयं यथा मत्स्यानामगच्छतां नैव स नयति ॥
—[illegible]।

३. क्रिया परिणतानां यः, स्वयमेव क्रियावताम्।
ददाति साहाय्यं, स धर्मः परिकीर्त्यते ॥ [illegible] ॥
जीवानां पुद्गलानां च, कर्तव्ये गत्युपग्रहे।
जलवन्मत्स्यगमने, धर्मः साधारणाश्रयः ॥ [illegible] ॥
—[illegible]।

तथा स्थिति नहीं हो सकती। वायु आदि अन्य पदार्थों को गति तथा स्थिति का सहायक मानने से अनवस्था आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अतः इनका अस्तित्व निःसन्देह सिद्ध है। अलोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों ही नहीं हैं। इसलिए वहां पर जीव और पुद्गल नहीं जा सकते और नहीं रह सकते।"

पन्नवणावृत्ति में आचार्य मलयगिरि और लोक-प्रकाश में विनय विजय गणी धर्म-द्रव्य की सार्थकता बतलाते हुए लिखते हैं—"धर्म-द्रव्य[1] के अभाव में लोक अलोक की व्यवस्था ही नहीं बनती।"

प्रमेय कमल मार्तण्ड में श्री प्रभाचन्द्र सूरि धर्म-द्रव्य की सूक्ष्म विश्लेषणा करते हुए लिखते हैं—"सब[2] जीव और पौद्गलिक पदार्थों की गतियाँ एक साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखती हैं, क्योंकि ये सब जीव और पौद्गलिक पदार्थ युगपत् गतिमान् दिखलाई देते हैं। तालाब के अनेक मत्स्यों की युगपत् गति देखकर जिस प्रकार उक्त गति के साधारण निमित्त रूप एक सरोवर में रहे हुए पानी का अनुमान होता है।"

यौक्तिक अपेक्षा

धर्मास्तिकाय की कोई निराधार कल्पना नहीं है। इस विषय को जैन दार्शनिकों ने पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है, आकाश अनन्त है, विश्व एक देशवर्ती है, यह जैन दर्शन की मान्यता है। विश्व एक देशवर्ती है, ऐसा क्यों? यह इसलिए कि विश्व में ऐसा कोई तत्त्व है, जिसका गुण गतिक्रिया में योगभूत होना है और वह लोक परिमित है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का एक एक परमाणु अनन्त आकाश में छितर जाता और विश्व का कोई संगठन ही नहीं बनता। यही धर्म-द्रव्य की यौक्तिक अपेक्षा है।

एक अन्य अपेक्षा—आत्मा और अणु दो गतिशील पदार्थ हैं। अपनी गति का उपादान कारण तो वे स्वयं हैं पर निमित्त कारण को खोजना पड़ता है। पृथ्वी, जल आदि लोक व्यापी नहीं हैं। गति लोक मात्र में देखी जाती है। वायु आदि स्वयं गतिशील हैं। आकाश लोक और अलोक में सर्वत्र व्याप्त है, पर जीव व पुद्गल की गति सर्वत्र प्रतीत नहीं होती। काल गति निरपेक्ष है और लोक देश में है। निर्धारित द्रव्यों

---

१. लोकालोक व्यवस्थाऽनुपपत्तेः। —प्रज्ञापना वृत्ति, पद १।

२. विवादापन्नसकलजीवपुद्गलाश्रया सकृद्गतयः।
साधारण बाह्य निमित्तापेक्षा युगपद् भावि—
गतिमत्वादेकसरःसलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत्। —प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड।

में से एक भी गति-माध्यम का प्रतीक नहीं हो सकता। इसलिए धर्म-द्रव्य की स्वतन्त्र कल्पना अत्यन्त स्वाभाविक और बुद्धिगम्य है।

धर्मास्तिकाय जन्य सहाय का स्वरूप

धर्म-द्रव्य किस प्रकार से जीव और पुद्गल को गति क्रिया में सहायता प्रदान करता है, यह बताते हुए पंचास्तिकायसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—"धर्मास्तिकाय[1] न स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गतिशील जीव व पु्गल की गति का प्रसाधन है। मछलियों के लिए जल जैसे गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीवपुद्गलों के लिये धर्म-द्रव्य है।"

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्रसूरि लिखते हैं—

"धर्म-द्रव्य[2] गति परिणत जीव व पुद्गल के लिए मछलियों के लिये जल की तरंह गमन-सहकारी है। स्थिर पदार्थों को वह चलने के लिए प्रेरित नहीं करता।"

अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—"धर्म-द्रव्य[3] क्रियापरिणत व क्रियाशील पदार्थों को स्वयमेव सहायता प्रदान करता है। जीव और पुद्गल के कर्तव्य गति-उपग्रह में वह साधारण आश्रय है, जैसे मत्स्य के गमन में जल।"

आज की व्यवहार्य सामग्री में यदि हम धर्म-द्रव्य के सहाय को समझना चाहें तो रेल और पटरी का उदाहरण समुचित होगा। रेल के लिए पटरी की सहायता जिस प्रकार अनिवार्यतः अपेक्षित है, उसी तरह गतिशील जीव व पुद्गल की

---

१. न च गच्छति धर्मास्तिको, गमनं न करोत्यन्य द्रव्यस्य।
भवति गतेः प्रसरो, जीवानां पुद्गलानां च ॥ ८५ ॥
उदकं यथा मत्स्यानां, गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलानां, धर्म-द्रव्यं विजानीहि ॥ ८६ ॥

—पञ्चास्तिकाय।

२. गति परिणतानां धर्मः पुद्गलजीवानां गमन सहकारी।
तोयं यथा मत्स्यानामगच्छतां नैव स नयति ॥

—द्रव्य-संग्रह—संस्कृत छाया।

३. क्रिया परिणतानां यः, स्वयमेव क्रियावताम्।
प्राददाति सहायत्वं, स धर्मः परिभाष्यते ॥ ३३ ॥
जीवानां पुद्गलानां च, कर्तव्ये गत्युपग्रहे।
जलवन्मत्स्यगमने, धर्मः साधारणाश्रयः ॥ ३४ ॥

—तत्त्वार्थसार, अध्याय ३।

गति में धर्म-द्रव्य की अनिवार्य अपेक्षा है। पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नहीं करती फिर भी रेल के चलने में उसकी मूक या उदासीन सहायता रहती है। जीव और पुद्गल की गति में यही सम्बन्ध धर्म-द्रव्य का है।

धर्म-द्रव्य को यदि संक्षेप में बताना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं—धर्म-द्रव्य पदार्थ मात्र की गति का निष्क्रिय माध्यम, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श रहित अरूपी; अपारमाणविक, अभौतिक, लोक-व्याप्त, असंख्य-प्रदेशात्मक एक अखण्ड सत्ता रूप है।

ईथर

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व वैज्ञानिकों में ईथर का कोई स्थान नहीं था। इस ओर वैज्ञानिकों की मनीषा नहीं दौड़ी थी। किन्तु यह कैसे हो, सृष्टि के अणु-अणु पर विचार करने वाला वर्ग उसकी रचना के इस अनिवार्य अंग से अपरिचित ही बना रहे। जब प्रश्न सामने आया—सूर्य, ग्रह और तारों के बीच जो इतना शून्य प्रदेश पड़ा है, प्रकाश किरणें कैसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं? उनकी गति का माध्यम क्या है? बिना माध्यम यह असम्भव माना गया कि प्रकाश जो एक भारवान्[1] वस्तु है, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँच सके। इसी समस्या ने उन्हें किसी माध्यम को ढूंढ़ निकालने के लिए विवश किया। परिणामस्वरूप ईथर की कल्पना की गई। माना गया—ईथर तारों, ग्रहों और दूसरे आकाशीय पिण्डों की खाली जगह में ही नहीं भरा है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के रिक्त देश में भी व्याप्त है।

ईथर सम्बन्धी प्राथमिक धारणाओं में यह भी माना गया था—ईथर एक अभौतिक नहीं, भौतिक पदार्थ है। उसमें खास प्रकार और परिमाण की लचक और घनता है। उस लचक और घनता का परिमाण भी बताया जाता था किन्तु वह सन्देहास्पद ही था। अन्यान्य समस्याओं के कारण विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं जा सकता था।

एक नाव नदी के इस पार आती है। उसे खूंटे से बांध दिया जाता है। पतवार मांगे पर इस प्रकार डाल दिया जाता है कि उसकी थापी नाव से बाहर निकली रहती है। उससे जल की बूंदें टपक रही हैं। हर एक बूंद गिरकर पानी में एक वृत्त बनाती है, जिसकी परिधि आकार में बढ़ती हुई पानी पर अग्रसर होती है। जैसे एक बूंद के बाद दूसरी बूंद टपकती है वैसे ही एक के बाद दूसरे वृत्त बनते हैं और वे बढ़ते हुए भी पहले वृत्त से छोटे तथा एक ही केन्द्र बिन्दु वाले समकेन्द्रक होते हैं।

---

१. विज्ञान पहले प्रकाश को भार शून्य वस्तु समझता था किन्तु इस युग तक वह उसे भारवान् पदार्थ मानने लगा है, जैसे कि जैन दर्शन सदा से मानता आया है।

यद्यपि इन वृत्तों के व्यास लगातार बढ़ रहे हैं तो भी उनके व्यासों की एक दूसरे के साथ न्यूनाधिकता एक सी रहती है, क्योंकि उनके अग्रसर होने की एक सी गति है। अब नाव खोली जाती है, पतवारों को वैसे ही पड़ा छोड़कर मल्लाह उसे लग्गी से चलाता है। बूंदें अब भी गिर रही है। किन्तु एक जगह नहीं, इसलिए वृत्त एक केन्द्र वाले नहीं हैं और उलझाये छल्लों की भांति आगे बढ़ रहे हैं। वैज्ञानिक कह रहे थे, पतवार की स्थिति गिरी हुई बूंदों के वृत्तों की गति पर जिस प्रकार कोई प्रभाव नहीं रखती, उसी तरह प्रकाश का उद्गम (आकाशीय पिण्ड या सूर्य) प्रकाश की गति पर कोई प्रभाव नहीं डालता। छूटने वाली प्रकाश-किरण उसी एक सैकिण्ड में १८६००० मील की गति से चलती रहेगी। फिर प्रश्न था बूंदों के वृत्तों की चाल को जिस प्रकार जल अपनी घनता के कारण रुकावट डालकर कम करता जाता है, क्या उसी तरह ईथर प्रकाश-किरणों की गति में रुकावट नहीं डालेगा ? किन्तु वेध बतलाता था, प्रकाश-गति दूर या समीप १८६००० मील प्रति सैकिण्ड रहती है। यह नहीं होता कि कुछ लाख मीलों से आने वाला प्रकाश ज्यादा द्रुतगामी हो और करोड़ों अरबों, खरबों व नीलों प्रकाश वर्षों से आने वाला मन्दगामी। यह क्यों ? इसका उत्तर वे केवल यही दे सकते थे कि ईथर की घनता इतनी कम है कि प्रकाश गति पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह उसके लिए शून्य-सा है और उसमें तैरने वाले आकाशीय पिण्डों की गति उसकी विद्यमानता से नहीं घटती बढ़ती। ईथर भौतिक वस्तु भी हो, उसमें घनता, तरंग-प्रवाहिता भी हो, किन्तु वह किरणों व आकाशीय पिण्डों की गति पर असर न डाले, यह बात युक्तिसंगत नहीं थी तो भी वैज्ञानिक माध्यम को ढूंढने में इतने आतुर थे कि वे ईथर को छोड़ नहीं सकते थे। जहां-जहां माध्यम की अनिवार्यता आई वहां-वहां उन्होंने खास गुणों वाले ईथर की कल्पना की। यहां तक कि शरीर के एक भाग की सूचना दूसरे भाग तक कैसे पहुंचती है इसलिए भी उन्होंने विशेष ईथर की कल्पना की। दूसरे शब्दों में समस्याओं का बुद्धि के साथ समाधान करने वाले ईथरों की संख्या भी सैकड़ों पर पहुंच गई। इतने पर भी ईथर उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान की सबसे बड़ी देन समझा जाता है।

इस समय तक का ईथर जैन-दर्शन में प्रतिपादित धर्म-द्रव्य के साथ गति [illegible] माध्यम के रूप से ही समानता रखता था। अन्य दृष्टियों से दोनों भौतिक और अभौतिक भेदों को लेकर सर्वथा पृथक् थे। धर्म-द्रव्य एक अभौतिक (अमूर्तिक) माध्यम माना गया था। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श अर्थात् हल्कापन, भारीपन, चिकना-पन, ठोसपन आदि की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी और ईथर सर्वथा इसके विपरीत। इस बीसवीं शताब्दी की गवेषणाओं ने ईथर का [illegible] कर दिया।

अभौतिक (अपारमाणविक), लोक व्याप्त, नहीं देखा जा सकने वाला एक अखण्ड द्रव्य है।

ईथर सम्बन्धी गवेषणाओं का इतिहास और आज के ईथर की रूप-रेखा समझने के लिए वैज्ञानिकों के कुछ प्रमाणभूत उद्धरणों से पर्याप्त मौलिक सामग्री मिलेगी। श्री डेम्पायर 'ए सोर्ट हिस्ट्री ऑफ साइन्स' पुस्तक के पृष्ठ १११ पर लिखते हैं—"यूनानियों की ईथर सम्बन्धी धारणा का विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग किया। कपेलर ने उसकी सहायता से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि सूर्य किस प्रकार ग्रहों को चलायमान रखता है। अपनी भँवरों (वार्टीसेज) के निर्माण के लिए डेकार्ट ने द्रव्य को ईथर माना। गिलवर्ट ने विद्युत् और चुम्बकत्व सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन में ईथर की सहायता ली और हार्वे का विश्वास था कि ईथर की सहायता से ही सूर्य प्राणियों और रक्त तक ताप पहुँचा पाता है।"

आगे पृष्ठ १६४ पर वे लिखते हैं—'तरंगों के संवाहन के लिए एक माध्यम (Medium) की आवश्यकता अनुभव की गई और उसके लिए ईथर की कल्पना की गई। तरंगों के अनुप्रस्थ (ट्रेन्सवर्स) के लिए ईथर का दृढ़ता के गुण से सम्पन्न होना आवश्यक था। दृढ़तायुक्त ठोस के रूप में ईथर की कल्पना को सत्य सिद्ध करने के लिए बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। परन्तु उन सब सिद्धान्तों को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा, यदि ईथर दृढ़ और ठोस है तो ग्रह बिना किसी बाधा के आकाश में कैसे घूमते रहते हैं? परन्तु जब मैक्सवेल ने सिद्ध कर दिया कि प्रकाश की तरंगें विद्युत् चुंम्बक-परक हैं तब ईथर के ठोस और दृढ़ होने की कल्पना जाती रही।"

'एन आउट लाइन फार बोयज एण्ड गर्ल्स एण्ड देयर पेरेन्ट्स' पुस्तक में श्री नोमिमिरसन लिखते हैं—"यदि प्रकाश की तरंगे वास्तविक हैं तो पहली समस्या यह थी कि ये तरंगें किसी पदार्थ विशेष में होनी चाहिएँ। स्पष्टतया ये तरंगें भौतिक पदार्थों में नहीं थीं, इसलिए अन्य द्रव्य जो कि भौतिक नहीं और जिसमें तरंगे हो सकें, उसका अन्वेषण करना आवश्यक था। इस अन्य द्रव्य को उन्होंने ईथर कहा और अनुमान किया—वह पतला और लचीला है, जो भौतिक लोक के अंशों के बीच में अबाध गति से चल सकता है और हर प्रकार के रिक्त स्थानों को भर सकता है[1]।"

---

1. The first problem was, of course, that if light-waves were real waves, they must be waves in something. They were plainly not waves in matter; it was necessary therefore to invent something else, which was not matter, for them to be waves in. This

"यह ईथर किस तरह का था ? आपत्तियाँ और विपरीतता नजर में आने लगी, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका था कि (१) ईथर सब गैसों से पतला है, (२) फौलाद (लोहा) से भी अधिक सघन है, (३) सर्वत्र नितान्त एक-सा है, (४) अगुरुलघु (भार शून्य) है, (५) और किसी एलेक्ट्रोन के पास शीशे से भी अधिक भारी है।"

'रिलेटिविटी एण्ड कोमनसेन्स' पुस्तक में ी एफ. एम. डेन्टन लिखते हैं—

"न्यूटन[1] का ईथर सघन है, तो भी उसमें बिना संघर्ष भूत (पदार्थ) स्वच्छन्द गति से भ्रमण करते हैं। यह लोचदार है परन्तु इसके और-और आकार नहीं हो सकते। यह घूमता है लेकिन इसकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती। भूत-पदार्थों पर इसका प्रभाव पड़ता है पर इस पर उनका नहीं। इसके पिंड नहीं हैं और न हम इसके पृथक्-पृथक् अंशों को पहचान सकते हैं। यह स्थिर तारों की अपेक्षा निष्क्रिय है तो भी एक दूसरे की अपेक्षा से तारे गतिशील माने गये हैं।"

'रेस्टलेस यूनिवर्स' पुस्तक में श्री मेक्सबोर्न लिखते हैं—

"सौ[2] वर्ष पूर्व ईथर एक Jelly की तरह का लोचदार पदार्थ माना गया था,

---

something they called the 'Ether' and imagined it as an utterly thin and utterly elastic, fluid, that flowed undisturbed between the particles of the material universe and fillen all 'empty space' of every kind.

What was this 'Ether' like ? Difficulties and contradictions appeared at once. For it was proved to be (1) thinner than the thinnest gas, (2) more rigid than steel, (3) absolutely the same everywhere, (4) absolutely weightless, (5) in the neighbourhood of any electron immensely heavier than lead.

1. The Newtonian Ether is rigid, yet allows all matter to move obout it without friction or resistense; it is elastic but can not be distorted; it moves but its motion can not be detected. It exerts force on matter but matter exerts no force on it; it has no mass nor has it any parts which can be identified; it is said to be at rest relatively to the 'fixed stars' ; yet the stars are known to be in motion relatively to one another.

2. A hundred years ago the Ether was regarded as one elastic body something as a jelly, but much stiffer and lighter, so that it could vibrate extremely, rapidly, but a great many phenomena, culminating in the Michelsen experiment and the theory of Relativity, showed that Ether must be something very different from ordinary terrestrial substances.

जो अत्यन्त हल्का और कठिन हो ताकि वह अत्यधिकता से और शीघ्रता से घूम सके। लेकिन मिकलसन के प्रयोग और अपेक्षावाद के सिद्धान्त द्वारा यह पता चला कि ईथर अन्य पार्थिव द्रव्यों से पृथक् है। ईथर की आवश्यकता बिजली और आकर्षण में भी रहती है।"

ईथर सम्बन्धी प्रयोग

प्रश्न उठता है कि ईथर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणायें क्यों उठीं और ये भिन्न-भिन्न निर्णय क्यों दिये गये ? इन निर्णयों के पीछे केवल कल्पना ही है या कोई प्रायोगिक आधार भी ? ईथर की स्थिति को समझने के लिए समय-समय पर विविध सम्भव प्रयोग होते रहे हैं। उन सब में माईकलसन मोर्ले का प्रयोग सुप्रसिद्ध है जो आज से लगभग ९५ वर्ष पूर्व ओईयो (Ohio) की क्लैवेपेन्ड यनिवर्सिटी की प्रयोगशाला में किया गया था।

प्रयोग का आधार था यदि आकाशीय पिण्ड ईथर के अनन्त समुद्र में सचमुच ही तैर रहे हैं तो उनकी गति का वेग जानना सहज है। निम्नोक्त उदाहरण इसे स्पष्ट कर सकेगा—एक वेग वाली नदी के सम्मुख एक नौका को एक नियमित दूरी तक ले जाकर वापिस लाने में अधिक समय लगेगा अपेक्षाकृत उतनी ही दूरी एक किनारे से दूसरे किनारे तक नौका ले जाकर वापिस लाने के। अगर जल अदृश्य हो तो भी उसकी (नौका की) गति समय के अनुपात से निकाल सकते हैं। इसी तरह से यह तर्क की जा सकती है कि अगर पृथ्वी वास्तव में ईथर में घूमती है तो रोशनी की एक किरण पृथ्वी की चाल के साथ-साथ दर्पण तक पहुँच कर वापिस लौटने में ज्यादा समय लेगी अपेक्षाकृत उसके कि रोशनी पृथ्वी की चाल के सम्मुख पहुँचती हो। यदि ईथर पृथ्वी की गति के लिए एक भौतिक माध्यम है तो उपरोक्त परिणाम होना जरूरी है। उक्त प्रयोग अमेरिका में एक बहुत सूक्ष्म यन्त्र द्वारा किया गया था किन्तु उससे मालूम हुआ कि प्रकाश की किरणें दोनों यात्रा में बराबर समय लेती हैं। रिचर्ड ह्यूज (Richard Hughes) के शब्दों में ईथर के सम्बन्ध में उसकी विशेषताओं को जानने के लिए पूर्णतया कोशिश करना कि ईथर एक वास्तविक द्रव्य है, उतना ही निरर्थक होगा जितना कि "गुड शेफर्ड्स क्रुक" (Good Shephards Crook) किस द्रव्य का बना हुआ है, मालूम करना।

यह प्रयोग-क्रिया सन् १८८१ में की गई थी और सन् १९०५ में वृहत्तर ध्यान के साथ दुहराई गई थी। अमेरिकन एकेडेमी ऑफ आर्ट्स एण्ड साइन्सेज की कार्यवाही में उसका फल छापा गया था, जो फिर शून्य आया। प्रोफेसर मिलर (Miller) ने कैलीफोर्निया के माउन्ट विल्सन (Mt. Wilson) पर सन् १९२१-२५ तक कई विस्तृत

व हर प्रकार से अन्वेषण-क्रियाएँ कीं। दस दिन तक चौबीस ही घण्टों में करीब पांच हजार बातें नोट की गई और निचोड़ यह निकला कि पृथ्वी और ईथर में सापेक्षिक गति है।

वैज्ञानिक जगत् में इस निचोड़ से बड़ी सनसनी फैल गई। क्योंकि माईकलसन मोर्ले की अन्वेषण क्रियाओं द्वारा हमको इस नतीजे पर पहुँचाया गया कि या तो ईथर नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है या यह पृथ्वी के साथ घूमता है या यह आकाश में निष्क्रिय पड़ा है। इसके विपरीत मिलर की अन्वेषण क्रियाओं द्वारा ईथर का अस्तित्व बताया गया है और यह प्रमाणित कर दिया गया है कि ईथर का नास्तित्व नहीं है।

मिलर की बताई हुई गति का पता लगाने के लिए टोमासक (Tomaschek) ने जर्मनी में सन् १९२५ में बहुत सूक्ष्म प्रयोग क्रियाएँ शुरू कीं। टोमासक के कार्य की अमेरिका स्थित चोज ने आलोचना की और उसने अपनी अन्वेषण क्रियाएँ कीं, जो कि सन् १९३६ अगस्त फिजिकल रिव्यू (मासिक पत्र) में प्रकाशित हुई कि ऐसी गति का पता नहीं लग सकता। हाल ही में माईकलसन की अन्वेषण क्रियाएँ एक गुब्बारे में जो कि पृथ्वी से लगाकर १½ मील से ३ मील की ऊँचाई पर था, दुहराई गईं। परन्तु वैज्ञानिकों की रिपोर्ट है कि वे मिलर की रिपोर्ट को न तो सत्य बता सकते हैं, न असत्य। यू० एस० ए० के कैनेडे के अन्वेषण द्वारा जो कि सन् १९२९ में प्रकाशित हो चुका है यह माना जा चुका है कि मिलर का नतीजा कई कारणों से सत्य मालूम नहीं होता। प्रसिद्ध शिकागो रोटेशन एक्सपेरिमेण्ट, जिसमें पृथ्वी की घूमने की गति का असर रोशनी की गति पर जाना जाता है, के द्वारा कि ईथर निष्क्रिय है; सही माना गया है।

ईथर की गति को लेकर इस प्रकार अनेकों प्रयोग हुए पर उनका अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि ईथर में कोई गति है ही नहीं। वह नितान्त निष्क्रिय है। इसकी पुष्टि डी० सी० मिलर के एक लेख ने जो कि उन्होंने ब्रिटिश एसोसियेशन के सामने सितम्बर सन् ३३ में पढ़ा और 'नेचर' पत्रिका में ३ फरवरी सन् ३४ में प्रकाशित हुआ था, लिखा है—

"पृथ्वी[1] की गति एक निष्क्रिय ईथर में से हो रही मानने से ही अन्वेषण द्वारा देखे गये फलानुवर्ती परिमाण व दिक् सम्बन्धी परिवर्तन संभव है।"

सच बात तो यह है—चिरकल्पित ईथर के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की राय

---

1. The magnitude and direction of the observed effect vary in the manner required by assumption that the earth is moving through a fixed Ether.

छछुन्दर वाली गति हुई। न तो वे उस रूप में उसे मान सकते हैं और न सर्वथा उसे छोड़ ही सकते हैं। ईथर क्रमशः जैन दर्शन में वर्णित धर्म-द्रव्य की परिभाषा में समाहित होने लगा—जो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित, अरूप, व्यापक, प्रदेशात्मक अस्तित्व-मान् है। किन्तु बद्धमूल संस्कारों के कारण वैज्ञानिक इस प्रकार के तत्त्व को वास्तविक द्रव्य कहने में हिचकिचाते भी हैं। साथ-साथ उसे द्रव्य कहे बिना कोई चारा भी नहीं है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स 'मिस्टीरियस यूनिवर्स' जो कि कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में दिये गये भाषणों का संकलन है, में 'ईथर और सापेक्षवाद' शीर्षक लेख में लिखते हैं—

"ईथर[1] शक्ति के अपने नाना रूपों में आधुनिक भौतिक विज्ञान में प्रमुख स्थान रखता है। यद्यपि बहुत से लोग उन्नीसवीं शताब्दी के साथ इसकी संगति होने के कारण ईथर के स्थान पर (Space) शब्द को व्यवहार में लाना चाहते हैं किन्तु यह कोई अधिक महत्त्व की बात नहीं है। मैं तो यह सोचता हूँ कि ईथर को उदाहरण का ढाँचा मान लेना चाहिए। इसका अस्तित्व विषुवत् रेखा या उत्तरी ध्रुव या ग्रीनविच में मेरीडियन के अस्तित्व की तरह ही वास्तविक भी हो सकता

---

1. The ether in its various forms of energy dominates modern physics, though many prefer to avoid the term 'Ether' because of its nineteenth century association, and use the term 'Space'. The term used does not much matter. I think the best way of regarding the ether is as a frame of reference, its existence is just as real, and just as unreal, as that of the equator, or the north pole, or the meridian of Greenwich. It is a creation of thought, not of solid substance. We heve seen how the ether, which is the same for all of us, as distinguished from your ether or my ether, must be supposed to pervade all time as well as all space, and that no valid distinction can be drawn between its occupancy of time and space. The frame work in time to which we must compare the time dimension of the Ether is of course ready to hand, it is the division of the day into hours minutes and seconds. And unless we think of this division as material, which no one ever does or has done, we are not justified in thinking of the Ether as material. In the new light which the theory of relativity has cast over science, we see that a material Ether filling space could only be accompanied by a material Ether filling time—the two stand or fall together.

है और अवास्तविक भी। यह एक विचारों की उपज है। ठोस पदार्थ की नहीं। हम यह देख चुके हैं कि ईथर तुम्हारे या मेरे ईथर से भिन्न हो कर हम सब के लिए समान है और यह कल्पना की जाती है कि यह सब समय और सब जगह में परिव्याप्त रहता है और जो यह समय और स्थान पर कब्जा या अधिकार करता है, उन दोनों अधिकारों में कोई प्रामाणिक भेद नहीं जाना जा सकता। समय का ढाँचा जिसमें कि हम ईथर के समय-प्रसार की तुलना करेंगे—निःसन्देह तैयार है। इसका मतलब यह होता है; दिन को घण्टों, मिनटों और सैकिण्डों में विभक्त करना पड़ता है। यह विभाजन पदार्थ के रूप में सोचना पड़ता है। अगर हम इसको पदार्थ के रूप में नहीं सोचें, जिसको कि आज तक किसी ने नहीं सोचा है तो हम ईथर को पदार्थ मान ही नहीं सकते। अपेक्षावाद ने जो विज्ञान पर नया प्रकाश डाला है, उसमें यह देखते हैं कि ईथर पदार्थ जो शून्य की पूर्ति करता है, वह समय की पूर्ति करने वाले ईथर के साथ रहता है यानि दोनों का उत्थान और पतन एक साथ होता है।"

विवेचन के प्रारम्भ में वे इस विषय को और भी स्पष्ट कर देते हैं—"हमारे[1] निर्णय को पहले ही कह देना अच्छा होगा। संक्षेप में यों है कि ईथर और उनके कम्पन, लहरें या तरंगें जो कि विश्व को बनाती हैं, ये सब चीजें हर संभावना में कल्पित हैं। कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि उनका बिलकुल अस्तित्व नहीं है, उनका अस्तित्व हमारे मन में है। नहीं तो उन पर सोच-विचार भी नहीं करते। और हमारे मन में यह या कोई दूसरी कल्पना उत्पन्न करने के लिए मन के बाहर कोई

---

1. It may be well to state our conclusion in advance. It is, in brief, that the ethers and their undulations, the waves which form the universe, are in all probability fictitious. This is not to say that they have no existense at all; they exist in our minds, or we should not be discussing them; and some thing must exist outside our minds to put this or any other concept into our minds. To this something we may temporarily assign the name 'reality' and it is this reality which is the object of science to study. But we shall find that this reality is something very different from what the scientist of fifty years ago meant by Ether, undulations and waves, so much so that, judged by his standards and speaking his language for a moment, the Ether and their waves are not realities at all. And yet they are the most real things of which we have any knowledge or experience, and so are as real as anything possible can be for us.

चीज का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। इस कोई चीज को हम क्षणिक तौर से वस्तु या वास्तविकता का नाम देते हैं और यह वही वास्तविकता या वस्तु है, जो आज विज्ञान का लक्ष्य बना हुआ है। लेकिन साथ-साथ यह भी बात मालूम होती है कि आज के ५० वर्ष पूर्व के वैज्ञानिक ईथर, कम्पन और लहरों से वास्तविकता का जो अर्थ निकालते थे, उससे आज की वास्तविकता नितान्त भिन्न है। क्योंकि उन पुराने वैज्ञानिकों के स्तर में और एक क्षण के लिए उसकी भाषा में बोलने से ईथर और उनकी तरंगे बिल्कुल सिद्ध नहीं हो सकतीं, तो भी वे बहुत वास्तविक पदार्थ हैं जिनके विषय में हमारा ज्ञान और अनुभव हो सकता है और इसलिए वे इतने वास्तविक हो सकते हैं, जितनी कि सम्भवतः हमारे लिए कोई चीज हो सके।"

धर्म-द्रव्य के स्वरूप को भली प्रकार से जानने वाले व्यक्तियों के लिए यह जान लेना अत्यन्त आसान होगा कि कल्पना की विविध भूल-भुलैयों को पार करते हुए वैज्ञानिक किस प्रकार धर्म-द्रव्य के आगम-प्रतिपादित स्वरूप के अत्यन्त आसन्न पहुँच रहे हैं। उनकी चिरकालीन बद्धमूल धारणायें उन्हें तथा प्रकार के अभौतिक पदार्थ के स्वीकरण में रोकती हैं तथापि प्रकृति की वास्तविकता उन्हें अपने निकट खींचे ही जा रही है।

धर्म-द्रव्य और ईथर कहाँ तक एक हैं, इस विषय में एक दो महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर विषय को और भी सुस्पष्ट कर दिया जाता है। भौतिक विज्ञान की प्रमाण-भूत पुस्तक "भौतिक जगत् की प्रकृति" में ए० एस० एडिंगटन द्वारा लिखा गया है—"इसका[1] यह तात्पर्य नहीं कि ईथर नहीं है। हमको ईथर की जरूरत है...गत शताब्दी में यह आमतौर पर माना जाता था कि ईथर एक द्रव्य है, जो पिण्ड रूप है, सघन है, साधारण द्रव्य की तरह गतिमान है। यह कहना कठिन होगा कि

1. This does not mean that the ether is abolished. We need an ether............in the last century it was widely believed that ether was a kind of matter having properties such as mass, rigidity, motion like ordinary matter. It would be difficult to say when this view died out..............now-a-days it is agreed that ether is not a kind of matter, being non-material, its properties are Suigeneries (quite unique) characters such as mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in ether but the ether will have new and definite characters of its own...........non-material ocean of ether.

—*The Nature of the physical World, p. 31.*

यह विचारधारा कब बन्द हुई'' आजकल यह माना जा चुका है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है। अभौतिक होने के कारण उसकी प्रकृति बिल्कुल भिन्न है'''' पिण्डत्व और घनत्व के गुण हमें जो भूत में मिलते हैं, स्वभावतः उनका ईथर में अभाव होगा परन्तु उसके अपने ही नये और निश्चयात्मक गुण होंगे''''''ईथर का अभौतिक समुद्र।"

धर्म-द्रव्य और ईथर का तुलनात्मक विवेचन करते हुए प्रोफेसर जी० आर० जैन एम. एस-सी. "नूतन और प्राक्तन सृष्टि विज्ञान" नामक पुस्तक के ३१वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"यह[1] प्रमाणित हो गया कि जैन दर्शनकार व आधुनिक वैज्ञानिक यहाँ तक एक हैं कि धर्म-द्रव्य या ईथर अभौतिक, अपारमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्याप्त, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है।"

'प्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो० अलबर्ट आईंसटीन लोक और अलोक की भेद-रेखा बताते हुए लिखते हैं—"लोक परिमित है, अलोक अपरिमित। लोक के परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का (द्रव्य का) अभाव है, जो गति में सहायक होती है।"

धर्म-द्रव्य के साथ कितना समन्वयपूर्ण विवेचन है। अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि हम अत्यन्त सूक्ष्मता में न जाते हुए यह कहें—धर्म-द्रव्य है वही ईथर है और ईथर है वही धर्म-द्रव्य।

एक उपसंहारात्मक दृष्टि

धर्म-द्रव्य और ईथर का यह तुलनात्मक विवेचन दर्शन और विज्ञान के विविध सम्बन्धों पर गहरा प्रकाश डालता है और दर्शन व विज्ञान को लेकर आज की कुछ बद्धमूल धारणाओं में ठोस परिवर्तन लाता है।

एक विचारधारा जिसके अनुसार माना जाता था कि विज्ञान सब कुछ है, दर्शन कुछ नहीं; वह तो केवल आदिम पीढ़ी के मनुष्यों के अविकसित दिमागों की उपज है, लोप हो जाती है। आज के सहस्रों वर्ष पूर्व जब कि तथाकथित विज्ञान का अंकुर भी न फूटा था, दार्शनिकों ने सृष्टि के इस सूक्ष्मतर तत्त्व का किस प्रामाणिकता के साथ निरूपण कर दिया। ज्ञान के उसी सोपान पर विज्ञान आज भी लड़खड़ाता-सा पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है।

---

1. Thus it is proved that science and Jain physics agree absolutely so far as they call Dharm (ether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, coextensive with space, indivisible and as a necessary medium for motion and one which does not itself move.

दूसरी विचारधारा के लोग जो केवल विज्ञान को कोसने में ही रहते हैं और कहते हैं वास्तविकता का ही दूसरा नाम विज्ञान है। उन्हें भी एक नया सवक उक्त विवेचन से मिलता है। उन्हें भी यह कम से कम मानना ही होगा कि वस्तुस्थिति तक पहुँचने में वैज्ञानिक कितने वद्ध-लक्ष्य होते हैं और असत्य के परिहार और सत्य के ग्रहण में उनकी मनीषा कितनी तटस्थ और तीव्र होती है।

जिस युग में भौतिक साधन-विशेष व तथारूप भौतिक प्रयोगशालायें नहीं थीं, उस युग में तथाप्रकार का तत्त्वनिरूपक अनन्त ज्ञान आज के वुद्धिवादी मानव को सहज ही अपने विषय में श्रद्धाशील वना लेता है।

आधारभूत ग्रन्थ व पत्र-पत्रिकाएँ

अथर्ववेद
अन्ययोग व्यवच्छेदिका
आचारांग सूत्र
आचारांग सूत्र टीका
उत्तराध्ययन सूत्रम्
ऋग्वेद
एतरैयाण्यक
कठोपनिषद्
गीता
गोम्मटसार
छान्दोग्य उपनिषद्
जम्बूद्वीप पन्नति
जैन-दर्शन
ज्योतिर्विनोद
तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक
तत्त्वार्थ सार
तत्त्वार्थ सूत्र
द्रव्यानुयोग तर्कणा
द्रव्य संग्रह
दर्शन का प्रयोजन
दशवैकालिक सूत्र
दीर्घ निकाय
धम्मपद
धवला ग्रन्थ
नियम सार
पंचास्तिकाय सार
पंच सिद्धान्तिका
पन्नवणा सूत्र
पन्नवणा सूत्र वृत्ति
प्रमाण वार्तिक
प्रमेय कमल मार्तण्ड
पातञ्जल महाभाष्य
पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास
प्राकृत गाथा
भगवती सूत्र
भगवती सूत्र टीका
भामती
मण्डल प्रकरण
मनुस्मृति
मानव-समाज
मिलिन्द प्रश्न
यजुर्वेद
योग दर्शन
राजवार्तिक
लोक प्रकाश
विशेषावश्यक भाष्य
विश्व की रूपरेखा
वृहदारण्यकोपनिषद्
वृहद्द्रव्य संग्रह
वैज्ञानिक भौतिकवाद
सतपथ ब्राह्मण
शब्द कल्पद्रुम कोष
शास्त्र वार्ता समुच्चय
शिष्यधी वृद्धिद तंत्र
श्री जैन सिद्धान्त दीपिका
श्री भिक्षु न्याय कणिका

षड् दर्शन समुच्चय
षड् दर्शन समुच्चय वृति
सर्वार्थसिद्धि टीका
सायण भाष्य
सिद्धसेनीय तत्त्वार्थ टीका
सिद्धान्त शिरोमणि
सूत्र कृतांग सूत्र
सूत्र कृतांग टीका
सौर परिवार
संयुक्त निकाय
स्याद्वाद मञ्जरी
हरिवंश पुराण
हिन्दी विश्वभारती
A History of Philosophical System.
An Outline for Boys and Girls and their Parents.
Arm Chair Science.
A History of Science
Astrological Magazine.
Atoms and the Universe.
Children's Newspaper.
Comprehensive Treatise on Inorganic and Theoritical Chemistry
Cosmology Old and New.
Essential Unity of All Religions.
Revolution.
Frist Principle.
History of the World.
Indian Philosophy.
Introduction to Science.
Mysterious Universe.
Nature.
P. L. Geography.
Physics and Philosophy.
Physical Review.
Positive Science of Ancient Hindus.
Psychology.
Relativity and Commonsense by Denton.
Restless Universe.
Science and Culture.
Science and Religion.
Book of Physics.
The Great Design.
The Mechanism of Nature.
The Modern Review of Calcutta.
The Nature of the Physical World.
Thesis on Energy.
The Sunday News of India.
The World in Modern Science.